॥ ओ३म् ॥



# यजुष्-साम-विमर्श

महर्षि दयानन्द सरस्वती

-: प्रकाशक :-
वैदिक मिशन
मुम्बई

# पदाधिकारी एवं ट्रस्टी गण



# वैदिक मिशन मुम्बई

डा. सोमदेव शास्त्री-अध्यक्ष

श्री चन्द्रगुप्त आर्य-उपाध्यक्ष

श्री संदीप आर्य-मन्त्री

श्री परीक्षित आर्य-कोषाध्यक्ष

श्री संगीत शर्मा-ट्रस्टी

डा. अनिशा परगल-ट्रस्टी
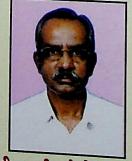
श्री जयन्तीभाई पटेल-ट्रस्टी

डा. अभयकुमार शुक्ला-ट्रस्टी

श्री ओमप्रकाश शुक्ल-ट्रस्टी
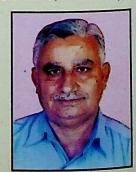
# यजुष्-साम-विमर्श

• सम्पादक •

डा. सोमदेव शास्त्री

• प्रकाशक •

वैदिक मिशन मुम्बई

प्रथम संस्करण

विक्रम संवत् २०६९ प्रति : १०००

**प्रकाशक :**

**वैदिक मिशन मुम्बई**
३०९, मिल्टन अपार्टमेंट,
जुहू कोलिवाड़ा, मुम्बई ४०० ०४९.

**● प्राप्ति स्थान ●**

१. **सन्दीप आर्य**
फरहीन सोसायटी (ग्राउण्ड फ्लोअर),
वाकोला पाइप लाइन,
सान्ताक्रुज (पूर्व), मुम्बई-४०० ०५५.
चलभाष : ९९६९०३७८३७

२. **डा. सोमदेव शास्त्री**
३०९, मिल्टन अपार्टमेंट,
जुहू कोलिवाड़ा, मुम्बई ४०० ०४९.
चलभाष : ९८६९९६६८१३०

**प्रथम संस्करण**
**प्रति : १०००**
**विक्रम संवत् २०६९**
**सन् २४ मार्च २०१३**
**मूल्य : १०० रुपये**

**मुद्रक :**
**विकास ग्राफीक्स**
**४८१/९, विनायक वासुदेव चाल,**
**ना. म. जोशी मार्ग, मुम्बई - ११.**

# सम्पादकीय

सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयम्भू परमात्मा ने वेदों का ज्ञान दिया। इनमें मनुष्यों के हितकारक सभी कर्मों का उपदेश दिया है। परमात्मा का ज्ञान होने के कारण यह अनादि और नित्य है ऐसा महर्षि वेद व्यास ने महाभारत में लिखा है-

**अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।**
**आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥**

(महा.शा.प. २३२-२४)

परमात्मा ने वेदों का ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में दिया इस लिये परमात्मा को गुरुओं का भी गुरु कहा जाता है। (**सः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।** यो.द.) वेद समस्त ज्ञान विज्ञान के भण्डार हैं। सर्व ज्ञानमयो हि सः....मनु.) वेदों की महत्ता को ध्यान में रखते हुए ही स्मृति ग्रन्थों में यहां तक लिखा दिया कि जिसने वेद नहीं पढ़े उस का विवाह नहीं होना चाहिये। (**वेदानधीत्य...गृहस्थाश्रममाविशेत्॥** मनु.) सृष्टि के आदि काल से वेदों का पठन पाठन होता रहा है। उपवेद-ब्राह्मण-आरण्यक उपनिषद्-वेदांग-उपांगादि सभी शास्त्रों ने वेदों की महत्ता को स्वीकार किया है और जिसने वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया उसको ''नास्तिक'' तक कह दिया।

महाभारत युद्ध के पश्चात् वेदों के पठन पाठन में शिथिलता आयी, अनेक प्रकार की मिथ्या विचार धाराएं प्रचलित हो गयी। वेदों में त्रिविध प्रक्रियाओं आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधियाज्ञिक के स्थान पर आधियाज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार वेदार्थ प्रारम्भ हो गया। **'वेदाः यज्ञार्थं प्रवृत्ताः'** वेदों का उपयोग केवल यज्ञ के लिये ही है यह मान्यता प्रचलित हो गयी तथा गोमेध-अश्वमेधादि शब्दों को लेकर यज्ञों में पशु हिंसा प्रारम्भ हो गयी। यज्ञों में पशु हिंसा का विरोध होने पर एक वाक्य प्रचलित कर दिया कि ''वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'' इस तरह वेद एवं यज्ञों के नाम पर पशु हिंसा

का जघन्य अपराध प्रारम्भ हो गया।

यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही **''पशून् पाहि''** पशुओं की रक्षा करने का उपदेश दिया वहीं पर यजुर्वेद के मध्यकालीन भाष्यकार उव्वट और महीधर ने अनेक मन्त्रों का हिंसापरक अर्थ किया। जिससे सामान्य जन वेदों से दूर हो गये प्रतिक्रिया स्वरूप जैन और बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हो गया। हजारों वर्षों से लुप्त परम्परा की ओर महर्षि दयानन्द ने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया कि वेदों में हमारे जीवन के लिये आवश्यक और उपयोगी समस्त ज्ञान विद्यमान है। (**सर्वज्ञानमयो हि सः ।** मनु.) यजुर्वेद में विद्यमान विविध विषयों के गहन चिन्तन के लिये वैदिक मिशन मुम्बई की ओर से १२-१३ मार्च २०११ में वैदिक विद्वानों की एक गोष्ठी का आयोजन किया गया। जिसमें विद्वानों ने अपने शोध लेख प्रस्तुत किये जो इस पुस्तक में दिये गये हैं।

वेदों में सामवेद का भी अपना महत्त्व है इसमें विविध विषयों के अतिरिक्त उपासना का भी वर्णन है। सामवेद की शाखा, सामवेद विषयक वाङ्मय, सामगान का प्रकार, सामवेद के भाष्यकार सामवेद का महत्त्व आदि विषयों पर विचार विमर्श करने के लिये मार्च २०१२ में वैदिक मिशन मुम्बई की ओर से वैदिक विद्वानों की वेदगोष्ठी का आयोजन किया गया, उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये शोध लेख भी इसी पुस्तक में दिये गये हैं। शोध लेख सुरक्षित रह सके तथा जो महानुभाव इन दोनों गोष्ठियों (सन् २०११ तथा २०१२) में उपस्थित न हो सके वे भी विद्वानों के शोध लेखों से लाभ उठा सके इसी दृष्टि से इनका प्रकाशन किया गया है।

इस वर्ष मार्च २०१३ में इन शोध लेखों को वैदिक मिशन की ओर से प्रकाशित करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है आशा है इससे स्वाध्यायशील आर्यजन लाभान्वित होंगे इसी आशा और विश्वास के साथ।

विनीत

**सोमदेव शास्त्री**

अध्यक्ष

वैदिक मिशन मुम्बई

# ''वैदिक मिशन मुम्बई'' का संक्षिप्त कार्य-विवरण

विगत छः वर्षों से 'वैदिक मिशन मुम्बई'' वैदिक धर्म के प्रचार व प्रसार के कार्यों में संलग्न है। अंग्रेजी पठित व्यक्तियों को संस्कृत भाषा का शिक्षण तथा वैदिक सिद्धान्तों का ज्ञान देना, वेद प्रचार तथा वेद सम्मेलन का आयोजन करना वैदिक मिशन का उद्देश्य रहा है। पत्राचार पाठ्यक्रम के द्वारा घर बैठे हुए व्यक्ति वैदिक मान्यताओं का हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा में ज्ञान प्राप्त कर सके इसके लिए यह संस्था प्रयत्नशील रही है।

वैदिक मान्यताओं के प्रचार हेतु वैदिक मिशन की ओर से सन् २००६ में 'वेद-गोष्ठी' का आयोजन किया गया जिसमें **''वेदों में सामाजिक संगठन और याज्ञिक प्रक्रिया''** विषय पर शोधपत्र पढ़े गये और उसे पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया।

सन् २००७ में **''अखिल भारतीय आर्य पुरोहित सम्मेलन''** का आयोजन किया गया जिसमें लगभग १०० पुरोहितों ने भाग लिया जिसमें याज्ञिक प्रक्रिया में एकरूपता हो इस विषय पर विचार मन्थन हुआ। **'सार्वदेशिक धर्मार्य सभा'** द्वारा निर्धारित याज्ञिक प्रक्रिया को समस्त आर्य समाजें पूर्ण रूप से अपनाएं यह प्रस्ताव सर्व सम्मति से पारित किया गया।

सन् २००८ में आर्य भजनोपदेशक सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें ६२ उपदेशकों ने भाग लिया। भजनोपदेशकों का संगठन **''आर्य भजनोपदेशक परिषद्''** का गठन किया गया । इस अवसर पर गाये गये भजनों की कैसेट व सी.डी. भी तैयार की गयी।

१४-१५ मार्च २००९ को **'आर्य महिला उपदेशिका सम्मेलन'** किया गया। जिसमें 'नारी उत्थान में ऋषि दयानन्द और आर्य समाज का योगदान' इस विषय पर परिचर्चा का आयोजन किया गया तथा डा. भवानीलाल भारतीय द्वारा लिखित पुस्तक **''आर्य भजनोपदेशक व्यक्तित्व और कृतित्व''** का विमोचन किया गया।

**अभिनन्दन एवं सम्मान :** उक्त कार्यक्रमों के अतिरिक्त यह मिशन प्रतिवर्ष विद्वानों का अभिनन्दन भी करता रहा है। सन् २००६ में **श्री दीनानाथ शास्त्री** और उनकी पत्नी **श्रीमती गायत्री देवी** (अमेठी) को ग्यारह हजार रुपये से सम्मानित किया।

सन् २००७ में पुरोहित सम्मेलन के अवसर पर आर्य प्रतिनिधि सभा मुम्बई की ओर से स्वामी **धर्मानन्द जी सरस्वती** गुरुकुल आमसेना (उड़ीसा) का दो लाख पचास हजार रुपये से अभिनन्दन किया गया।

सन् २००८ में भजनोपदेशक सम्मेलन के अवस र पर आर्य जगत् के प्रसिद्ध भजनोपदेशक **पं. बेगराज जी आर्य** और **श्री पं. बृजपाल जी कर्मठ** का पन्द्रह-पन्द्रह हजार रुपये से अभिनन्दन किया गया।

सन् २००९ में **पं. ताराचन्द जी वैदिक तोप** (नारनौल, हरियाणा) का ग्यारह हजार रुपये देकर अभिनन्दन किया गया।

सन् २०१० **श्री बृहस्पति शर्मा और उनकी धर्मपत्नी** (पुत्र एवं पुत्र वधू महामहोपाध्याय पं. युधिष्ठिरजी मीमांसक) को सम्मानित किया गया।

वैदिक मिशन मुम्बई निरन्तर वैदिक विचारों के प्रचार प्रसार में संलग्न है। सन् २००८-२००९ में उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ जिले के ग्रामों में वैदिक मिशन के ट्रस्टी श्री ओम्प्रकाशजी शुक्ल ने सम्पर्क करके सत्यार्थ प्रकाश के आधार पर वैदिक सिद्धान्तों की परीक्षा का

आयोजन किया जिसमें लगभग ३०० विद्यार्थियों ने भाग लिया। उस क्षेत्र में समारोह का आयोजन करके परीक्षा में उत्तीर्ण छात्र-छात्राओं को डा. सोमदेव शास्त्री अध्यक्ष वैदिक मिशन द्वारा प्रमाण पत्र और पुरस्कार वितरित किये गये।

वैदिक मिशन मुम्बई की ओर से संस्कृत की कक्षाएं वेद तथा दर्शनशास्त्र पर पत्राचार पाठ्यक्रम का संचालन किया जाता रहा है जिससे घर बैठे वेददर्शन शास्त्र आदि के ज्ञान से पठनार्थी लाभान्वित होते रहे हैं। यज्ञ से वर्षा होती है ऐसा वेदादि शास्त्रों में उपदिष्ट है। इसी दृष्टि से वैदिक मिशन के अध्यक्ष डा. सोमदेव शास्त्री ने मध्यप्रदेश के मन्दसौर जिले के ग्राम निनोरा में अगस्त २००९ तथा अगस्त २०११ में दो बार विशाल वृष्टियज्ञ का सफल आयोजन किया प्रतिवर्ष मई-जून में डा. सोमदेव शास्त्री वैदिक मिशन की ओर से मध्यप्रदेश व राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्रों वेद प्रचार का कार्य करते हैं।

दिनांक ६-७ मार्च २०१० को **महामहोपाध्याय पण्डित युधिष्ठिरजी मीमांसक** के जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर **अथर्ववेद संगोष्ठी (सम्मेलन)** का स्वामी प्रणवानन्दजी सरस्वती (दिल्ली) की अध्यक्षता में आयोजन किया गया जिसमें लगभग पचास वैदिक विद्वानों ने भाग लिया। अथर्ववेद में विविध विषयों पर विद्वानों ने अपने शोधपत्र प्रस्तुत किये। इस अवसर पण्डित युधिष्ठिरजी मीमांसक के पुत्र एवं पुत्र वधू को भी सम्मानित किया गया। **"नारी महिमा एवं उसके उत्थान और योगदान"** विषय पर प्रकाशित स्मारिका का विमोचन भी किया गया। अमर हुतात्मा पं. लेखराम की यशोगाथा से श्रोताओं को अवगत कराया गया।

२०१०-२०११ में पत्राचार पाठ्यक्रम के माध्यम से लगभग

३०० विद्यार्थियों ने वेदान्त और मीमांसा दर्शन का स्वाध्याय किया।

१२-१३ मार्च २०११ को इस संस्था ने आर्य समाज काकड़वाड़ी (मुम्बई) में यजुर्वेद पर वेदगोष्ठी का आयोजन किया जिसमें लगभग ६० विद्वानों ने भाग लिया।

इस अवसर पर **डा. सूर्यादेवी का १५०००/-** की राशि प्रदान कर सम्मान किया गया तथा उनकी पुस्तक **''ब्रह्मवेद है अथर्ववेद''** नहीं है जादू-टोना'' का विमोचन किया गया।

१७-१८ मार्च २०१२ में आर्य समाज सान्ताक्रुज मुम्बई में सामवेद सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें लगभग ५० विद्वानों ने भाग लिया। १८ मार्च २०१२ को अथर्ववेद विषयक विशिष्ट लेखों को 'अथर्ववेद परिशीलन' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया। इस अवसर महर्षि दयानन्द की अनुपम कृति 'सत्यार्थ प्रकाश की महत्ता और सुरक्षा के विषय में आर्य विद्वानों और नेताओं ने अपने विचार प्रकट किये। इस अवसर पर ''सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय संस्करण की अपरिहार्यता'' विषयक पुस्तक का विमोचन किया गया जिसका प्रकाशन आर्य प्रतिनिधि सभा प. बंगाल ने किया तथा इसका सम्पादन डा. सोमदेव शास्त्री (अध्यक्ष वैदिक मिशन मुम्बई) ने किया। इस प्रकार वैदिक मिशन मुम्बई अपने प्रगति पथ पर सतत् अग्रसर है।

**संदीप आर्य**

मन्त्री

वैदिक मिशन मुम्बई

# ॥ अनुक्रमणिका ॥

# वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति
## यह वाममार्ग की देन

– आचार्या सूर्यदेवी चतुर्वेदा

जगत् का व्यापार, व्यवहार शब्दों से चलता है। शब्द के बिना जगत् का कोई भी व्यापार, व्यवहार नहीं चल सकता। जगत् संचालन की बागडोर शब्दों के हाथों में है, अतः महर्षि यास्क ने लिखा है -

**अणीयस्त्वाच्च संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।** निरु.१/१/२

अर्थात् अतिलघु होने से लोक में व्यवहार के लिए शब्दों के द्वारा संज्ञा व संकेत किये जाते हैं।

**हिंसा का अर्थ**

जगत् व्यवहार, व्यापार के साधक इस शब्द सागर में एक शब्द है **हिंसा**। हिंसा शब्द यद्यपि स्वरूपतः लघु है, पर है बड़ा खतरनाक। इसकी परिणति से भय, सन्ताप, आक्रोश आदि छा जाते हैं। भय, सन्ताप, आक्रोश आदि जनक इस हिंसा शब्द के अनेक तात्पर्यार्थ हैं। मारना काटना, नष्ट करना, चोट प्रहार, क्षति विकृति, क्षत विक्षत, नुकसान, तहस नहस आदि सब कुछ **हिंसा** शब्द के गर्भ में ही ओत प्रोत हैं।

इस **हिंसा** शब्द के स्थूलदृष्ट्या जो जो अनेक तात्पर्यार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, उन उन अनेक तात्पर्यार्थों को महर्षि पाणिनि ने धातुपाठ में भ्वादिगण की **कुथि हिंसायाम्** से लेकर चुरादिगण की **हिसि हिंसायाम्** पर्यन्त एवं सौत्र **वध** धातु को मिलाकर १५२ धातुओं के द्वारा निर्दिष्ट किया है।

हिंसा शब्द में गर्भित मारना काटना, चोट प्रहार आदि ऐसे कार्य हैं, जिनसे दूसरों का स्वत्व छिन जाता है, दूसरों का अस्तित्व समाप्त कर दिया जाता है।

स्वत्व, अस्तित्व समापक यह हिंसा कार्य मन, वचन, शरीर इन तीन के द्वारा होता है। इनमें वाचिक व शारीरिक हिंसा अधिक विनाशकारी है और

इन दोनों में भी शरीर से की जाने वाली हिंसा अत्यधिक घातक है। शरीर के माध्यम से की जाती हुई हिंसा आक्रमित प्राणी को, ऐसा बर्बाद करती है कि आक्रमित का स्वत्व, अस्तित्व परोक्ष में बदल जाता है।

हिंसा इतनी घातक होती है, अतः योगदर्शन के भाष्यकार राजर्षि भोजदेव ने हिंसा का स्वरूप व्यक्त करते हुए **तत्राहिंसासत्यास्त्येब्रह्म-चर्यापरिग्रहा यमाः** सूत्र की व्याख्या में लिखा है -

**तत्र प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारो हिंसा। सा च सर्वानर्थहेतुः।** भोजवृ.योग. २/३०

अर्थात् उन यमों में प्राण वियोग के प्रयोजन से जो **व्यापार**=वृत्ति की जाती है, वह हिंसा कहलाती है। वह सब रूपों वाली हिंसा अनर्थ का कारण होती है।

**हिंसा का कारण**

अनर्थकारी यह **हिंसा** दो कारणों से की जाती है-**स्वार्थ** और **स्वाद**। **स्वार्थ** में हिंसा तब होती है; जब कोई किसी के धन, वैभव, स्त्री, भूमि आदि को हड़पना चाहता है।

**स्वाद** में हिंसा तब होती है, जब एक प्राणी दूसरे प्राणी के मांस को खाकर तृप्त होता है।

**स्वार्थ** की हिंसा पशु करते हैं और मनुष्य **स्वार्थ, स्वाद** दोनों प्रकार की हिंसा करते हैं। मनुष्यों के द्वारा भी ये हिंसायें तब की जाती हैं, जब मनुष्य के ज्ञानचक्षु बन्द हो जाते हैं, और **'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः**[१]**'** नाश के समय बुद्धि उलट जाती है, ऐसी मनुष्य की स्थिति होती है।

**यज्ञों में हिंसा वाममार्गीय देन**

मध्यकाल में मनुष्य की उल्टी बुद्धि वाली स्थिति हो गई। महाभारत युद्ध के पश्चात् ऋषि, महर्षि आदि वेदज्ञों के युद्ध में मारे जाने से वेदोक्त धर्म नष्ट हो गया, वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो गया। जिसके मन में जो आया,

जिसको जो स्वार्थ सूझा, वह-वह उस-उस कार्य को करने लगा। उस अनर्थकारी काल में झूठे गुरु, झूठे चेले समाज में फैल गये, मद्य मांस का सेवन करने लगे। उन मद्य मांस सेवियों का समूह ही कालान्तर में वाममार्ग के रूप में उठ खड़ा हुआ। मद्य, मांस के भक्षण में फँसे इन वाममार्गियों ने अपनी मांस खाने की प्रवृत्ति को प्रामाणिकता देने के लिए कर्मकाण्ड की याज्ञिक प्रक्रिया को अपना संबल बनाया। यज्ञों में धड़ल्ले से बकरा बकरी, भेड़ भेड़ी, अश्व आदि काटे जाने लगे और वचन बनाये -

**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।**

अर्थात् यज्ञ आदि वैदिक कर्मों में की जाने वाली हिंसा हिंसा नहीं होती है।

**वाममार्गियों के अनर्गल वाक्य**

वाममार्गियों ने इतना ही नहीं किया, मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी मांसभक्षण समर्थन करने वाले वाक्य रचकर प्रक्षेप किये। यथा-

**प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम्।** मनु. ५/२७

**न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।**
**प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥** मनु. ५/५६

अर्थात् मन्त्रों द्वारा प्रोक्षित मांस खाना चाहिये।

मांस खाने में, मद्य पीने में दोष नहीं है और न मैथुन में दोष है, क्योंकि जीवों की यह स्वाभाविक वृत्ति है। हाँ, इन कर्मों की निवृत्ति महाफल देने वाली होती है।

वाममार्गियों ने अपने मांसाहार का कहर पशुओं पर ढहाया। भेड़, बकरी आदि पशुओं को काट-काट कर आहुतियाँ देकर माँस खाने कोई संकोच नहीं रखा और कह डाला-

**यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।**
**यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥**

**या वेदविहिता हिंसा नियताश्चास्मिंश्चराचरे।**
**अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥**

मनु. ५/३९, ४४

अर्थात् स्वयंभू परमात्मा ने स्वयं ही यज्ञ के लिए पशु बनाये हैं, यज्ञ सम्पूर्ण संसार की **भूति**=उन्नति के लिए हैं, इसलिये यज्ञ में किया गया पशु का वध, अवध है, वह वध वध नहीं कहा जाता।

इस चराचर जगत् में जो वेदविहित हिंसा नियम की गई है, उस हिंसा को अहिंसा ही जानना चाहिये, क्योंकि हिंसा रूप धर्म वेद से ही निकला है।

**देवेभ्य अश्वमालभन्ते।** शत.ब्रा.११/२/५/१

**वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः।** तै.सं. २/१/१

ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में आये इन वाक्यों के देवों की आहुति के लिए अश्व को काटते हैं, ऐश्वर्य की प्राप्ति की कामना वाला वायु देवता के लिए श्वेत पशु को काटे, आदि अर्थ कर मारे।

ऋषि, महर्षियों ने जनकल्याण[२] के हेतु से जिन यज्ञों के अनुष्ठान, विधि विधान सुनिश्चित किये, वे सभी यज्ञ भूचड़खाने बन गये। पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ[३], सामयज्ञ आदि जितने भी यज्ञ हैं, उन सब में पशुमांस का प्रवेश करके तर्क प्रस्तुत किया-**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।**

**यज्ञों के प्रकार**

ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में यज्ञों के अनेक प्रकार हैं। उन प्रकारों में सोमयज्ञ आदि ३ विभाग अतिप्रसिद्ध हैं। उन ३ प्रसिद्ध विभागों के भी ७-७ प्रकार हैं -

प्रातर्होम, सायंहोम, स्थालीपाक, बलिवैश्वदेव, पितृयज्ञ, अष्टका और पशु ये ७ पाक यज्ञ के प्रकार हैं[४]। इन पाकयज्ञों में यव, व्रीहि, तिल, पुरोडाश एवं दुग्ध, दही, घृत आदि की विशिष्ट आहुति दी जाती है।

अग्न्याधेय=अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, नवसस्येष्टि, चातुर्मास्य

और पशुबन्ध ये ७ हविर्यज्ञ के प्रकार हैं[५]। इन यज्ञों में दूध, दही, घृत आदि की विशिष्ट आहुति पड़ती है[४]।

अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एवं अप्तोर्याम ये ७ सोमयज्ञ के प्रकार हैं[६]। इन यज्ञों में सोम एवं पूतिका की विशिष्ट आहुति होती है।

इन यज्ञों में पाकयज्ञ स्मार्त यज्ञ हैं, हविर्यज्ञ तथा सोमयज्ञ श्रौत व ब्राह्मणोक्त यज्ञ हैं। इन तीनों ही प्रकार के यज्ञों में पशुयज्ञ किये जाते हैं और वे पशुयज्ञ गोमेध, अश्वमेध, अविमेध, अजमेध, पुरुषमेध नामों से प्रसिद्ध हैं।

इन विभिन्न भागों में विभक्त यज्ञों में एक दो को छोड़कर सभी यज्ञ पशुहिंसा व पशुबलि द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं, जिनका विधि विधान तत्तत् ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। उन विधियों में अग्निष्टोम में १ बकरे की बलि, अत्यग्निष्टोम में २ बकरों की बलि, उक्थ्य में २ बकरों व १ बकरी की बलि, षोडशी में २ बकरों व १ भेड़ की बलि, अतिरात्र में २ बकरों व २ मेषों की बलि, वाजपेय में अनेक पशुओं की बलि एवं अप्तोर्याम में ३ बकरों व १ भेड़ा की बलि देने का विधान है। राजसूय, सौत्रामणि, अश्वमेध आदि भी पशुबलि द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

इन समस्त दर्श, पूर्णमास आदि यज्ञ, पशुबन्ध एवं ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों के विधि विधानों को देखने पर ज्ञात होता है कि ये यज्ञ प्रायः पशुओं की बलि, रक्त, मांस की आहुति से भरे पड़े हैं। यज्ञों में दी जाने वाली इन्हीं मांस आदि की आहुतियों व मांस भक्षण के स्वेच्छाचारों का ही द्योतक **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** यह वाक्य है, जो वाममार्गियों द्वारा गढ़ा गया है।

वाममार्गियों द्वारा एतादृश मांस खाने, आहुति देने आदि में जितने भी विधि विधान व श्लोक गढ़े गये, वे सभी अनर्गल व स्वार्थ पूर्ति के हेतु से गढ़े गये। पर विडम्बना तो यह हुई कि इन वाममार्गियों की अनर्गलता पर यज्ञ के

विधि विधान लिखने वाले, उन विधि विधानों के अनुसार कर्म करने कराने वाले पण्डितों ने भी कोई विवेक नहीं किया, स्वयं पण्डित भी बकरी, भेड़, गौ आदि पशुओं को काटने व बलि चढ़ाने में लग गये।

**पशुबलि वेदविरुद्ध**

यज्ञों में मांसभक्षण, पशुबलि आदि बीभत्स कार्यों का विरोध करने का साहस यदि किसी ने किया तो मात्र **महर्षि दयानन्द सरस्वती** ने किया। यज्ञों में हो रही हिंसा, पशुबलि का उन्होंने डटकर खण्डन किया। ऋषि दयानन्द अग्निहोत्र आदि यज्ञों के विरोधी नहीं थे, इन यज्ञों के वे पूर्ण समर्थक और प्रतिपादक थे। यज्ञ शब्द की परिभाषा में सर्वत्र उन्होंने **'अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त'**[७] इन शब्दों द्वारा यज्ञ की उपयोगिता निर्दिष्ट की है। महर्षि दयानन्द ने यज्ञों की महत्ता में जो प्रतिपादन किया है, वह स्थापना कोई अन्य नहीं कर सका। पर यज्ञों में होने वाली हिंसा व पाप को वे नहीं सह सके।

वाममार्गियों के **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** वाक्य का उत्तर देते हुए **महर्षि दयानन्द** ने अत्यन्त पीड़ा के साथ **सत्यार्थ प्रकाश** में लिखा-

**प्रोक्षित** अर्थात् यज्ञ में मांस खाने में दोष नहीं, ऐसी पामरपन की बातें वाममार्गियों ने चलाई हैं। उनसे पूछना चाहिये कि जो वैदिकी हिंसा हिंसा न हो तो तुझ और तेरे कुटुम्ब को मार के होम कर डालें, तो क्या चिन्ता है? मांसभक्षण करने, मद्य पीने, परस्त्रीगमन करने आदि में दोष नहीं है, यह कहना छोकरापन है।

**प्रश्न** – यज्ञकर्ता कहते हैं कि यज्ञ करने से यजमान और पशु स्वर्गगामी तथा होम करके फिर पशु को जीता करते थे, यह बात सच्ची है वा नहीं ?

**उत्तर** – नहीं, जो स्वर्ग को जाते हों, तो ऐसी बात कहने वाले को मार होम कर स्वर्ग में पहुँचाना चाहिये वा उसके प्रिय माता, पिता, स्त्री और पुत्रादि को मार होम कर स्वर्ग में क्यों नहीं पहुँचाते ? वा वेदी में से पुनः क्यों नहीं जिला देते हैं। (सत्यार्थप्रकाश एकादश समु.)

महर्षि के इन वचनों से स्पष्ट है कि वाममार्गियों द्वारा चलाया गया मांसभक्षण व यज्ञों में मांस की आहुतियों का कार्य वेद विरुद्ध है, मात्र स्वार्थ व स्वाद की पूर्ति के उद्‌देश्य से प्रारम्भ किया गया कार्य है। इस पशुबलि का निषेध पुराणों में भी व्यंगात्मक शैली से किया गया है-

**यज्ञं कृत्वा पशुं हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।**
**यद्येवं गम्यते स्वर्गो नरकः केन गम्यते? ॥**

पद्म पु.सृ.ख.१३/३३२

अर्थात् पशु मारकर यज्ञ करने वाला, रुधिर का कीचड़ करने वाला यदि स्वर्ग में जाता है, तो नरक में कौन जाता है ?

**नैतद्युक्तिसहं वाक्यं हिंसा धर्माय जायते।**
**हवींष्यनलदग्धानि फलान्यर्हन्ति कोविदाः ॥**
**निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते।**
**स्वपिता यजमानेन किं वा तत्र न हन्यते ॥**

पद्म पु.सृ.ख. १३/३६६, ३६७

अर्थात् हिंसा धर्म के लिए होती है, यह कथन कसौटी से कसा हुआ नहीं है। यदि अग्नि में डाली हुई मांसाहुतियाँ विद्वान् को फल प्राप्त कराती हैं, यज्ञ में मारे गये पशु स्वर्ग प्राप्त करते हैं, यदि यह इष्ट है, तो यजमान अपने पिता की यज्ञ में हत्या क्यों नहीं करता ?

मांसभक्षण व मांस की आहुति में वाममार्गियों द्वारा मनु महाराज को उद्‌धृत करना जालसाजी मात्र है। किसी भी मनुष्य या पशु ही हत्या करने वाले को तो मनु ही स्वयं घातक व पापी कहते हैं। यथा-

**अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।**
**संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥** मनु. ५/५१

अर्थात् मांस खाने की अनुमति देने वाला, मृत जीव के अंगों को टुकड़े-टुकड़े करने वाला, मारने वाला, बेचनेवाला, खरीदने वाला, पकाने वाला,

परोसने व लाने वाला एवं खाने वाला ये सभी जीव **घातकाः**=हिंसक पापी होते हैं।

**हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ।** मनु. ४/७०

अर्थात् जो नित्य, निरन्तर हिंसा में लगा रहता है, उसे संसार में सुख प्राप्त नहीं होता।

मनु इतना ही नहीं कहते अपितु मांसभक्षियों को सचेत करते हुये मनु कहते हैं-

**मां सः भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।**

**एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ।।** मनु. ५/५५

अर्थात् मैं जिसके मांस को यहाँ खाता हूँ, वह मुझे परलोक में खायेगा। यह मांस का **मांसत्वम्**=मांसपना है, ऐसा विद्वान् कहते हैं।

मनु महाराज ने एतादृश वचनों द्वारा मांसभक्षण, पशुबलि, मांसकर्तन आदि का खण्डन किया है।

यज्ञ पशुबलि या मांसाहार के केन्द्र नहीं हैं, अपितु ये सभी यज्ञ मनुष्यों की भाँति पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणियों के भी पोषक, रक्षक यज्ञ हैं। वेदों में कहा है-

**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।** ऋ.१/१६५/३५

**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।** यजु. २३/६२

**यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः ।** अथर्व. ९/१०/१४

अर्थात् यज्ञ सम्पूर्ण विश्व के **नाभिः**=केन्द्र हैं।

शरीरस्थ नाभि के समान यज्ञ सम्पूर्ण जगत् के पालक, पोषक हैं, घातक, नाशक नहीं हैं। यज्ञ पालक होते हैं, घातक व हिंसा के केन्द्र नहीं होते हैं, अत एव यज्ञों को **अध्वर** संज्ञा दी गई है। **अध्वर** शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क ने कहा है -

**अध्वर इति यज्ञनाम । ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः ।**निरु.१/३/७

अर्थात् अध्वर यज्ञ का वाचक है। **ध्वृ** धातु हिंसा अर्थ वाली है, उस अर्थ का यहाँ निषेध है अर्थात् अध्वर शब्द यज्ञ में पशुहिंसा का निषेध करता है। यज्ञों में किसी भी प्रकार की पशुहिंसा नहीं होती। यज्ञों में पशुवध होने पर अध्वर शब्द यज्ञ का पर्यायवाची नहीं बन सकता।

वेदों के नाम पर **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** कहकर हिंसा का समर्थन करना, यज्ञों में पशुहिंसा करना मांसभक्षियों की दूषित मनोवृत्ति का ही परिणाम है। वेदों में वदतो व्याघात को स्थान नहीं है, अतः वेद अन्य स्थल में मांस भक्षण का निषेध कर दूसरी जगह मांस खाने का समर्थन नहीं कर सकते। वेदों में तो पशुरक्षा के ही संदेश दिये गये हैं-

**यजमानस्य पशून् पाहि।** यजु. १/१

अर्थात् यजमान के पशुओं की रक्षा कर।

**गां मा हिंसीः।** यजु. १३/४३

अर्थात् गाय की हिंसा न करो।

**इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम्।** यजु. १३/४८

अर्थात् इस एक खुरयुक्त अश्वादि को न मारो।

**अविं जज्ञानां...... मा हिंसीः परमे व्योमन्।** यजु. १३/४४

अर्थात् हे व्यापक परमेश्वर ! **अविम्**=भेड़ व पृथिवी को हिंसित मत करो।

वेदोक्त पशुरक्षा के ये संदेश स्पष्ट घोषित करते हैं कि पशुओं की यज्ञों में बलि देना वैदिक विधान नहीं है, स्वार्थी लोगों का चलाया हुआ कर्म है। यज्ञों के मध्य विनियुक्त मन्त्रों में जहाँ कहीं भी गौ, अश्व, अज आदि नाम आये हैं, वे इन बकरी, भेड़ आदि की बलि के ज्ञापक और वाचक नहीं हैं।

अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जितने भी याग हैं, वे सभी अध्यात्म एवं अधिदैव, अधिभूत प्रक्रियाओं के ज्ञापक हैं। ऋषियों ने ब्रह्माण्ड व पिण्ड की प्रक्रिया को जनाने के लिए जैसे भूगोल के ज्ञान के लिये मानचित्र बनाये

जाते हैं, उन मानचित्रों में ग्राम, नगर, जिला, प्रान्त, देश, महादेश आदि के विभिन्न प्रकारों को इंगित किया जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड व पिण्ड की स्थूल, सूक्ष्म रचनाओं को जनाने के लिये यज्ञों की कल्पना की है। जिस कल्पना में अग्निहोत्र से लेकर सोमयाग के अग्निष्टोम आदि तथा अश्वमेध आदि अनेक यज्ञ प्रकल्पित किये गये हैं।

**अग्निहोत्र** का सम्बन्ध अध्यात्म से है। वाक्, मन आदि का यज्ञ में क्या सम्बन्ध है? इसका मनोहारी विवेचन अग्निहोत्र के माध्यम से किया गया है[८]।

**दर्श, पूणर्मास** का सम्बन्ध अधिदैविक एवं अध्यात्म तत्त्वों से है। दिन रात, मास अर्धमास, ऋतु संवत्सर की गतियों को[९] एवं प्राण, अपान, मन का शरीर में क्या स्वरूप है? इनके कार्य क्या हैं? आदि विषयों का प्रतिपादन दर्श, पूर्णमास याग में विद्यमान है[१०]।

**चातुर्मास्य इष्टियाँ** ऋतु सम्बन्धित ज्ञान की द्योतक हैं। **गवामयन यज्ञ** सूर्य की उत्तरायण व दक्षिणायन गतियों का ज्ञापक आधिदैविक यज्ञ है। गौ रश्मियों को कहते है। **अयन**=एक स्थान से चलकर पुनः उसी स्थान तक पहुँचने की संज्ञा हैं।

**अश्वमेध** यज्ञ चक्रवर्ती राज्य अथवा सूर्य की वार्षिक गति का प्रतिपादक है। **देवेभ्योऽश्वमेधमालभन्ते तदाहुः प्राकृतोऽश्वमेध इति,** शत.ब्रा. ११/२/५/१ शतपथ के इस वचन में अश्वमेध को प्राकृतिक यज्ञ बताया है।

**ज्योतिष्टोम** यज्ञ भी आधिदैविक यज्ञ है। इस यज्ञ के माध्यम से एक वसन्त ऋतु से दूसरी वसन्त ऋतु पर्यन्त होने वाली प्रति ऋतु की गति, प्रकारों को विज्ञप्त किया जाता है।

ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड की गति, स्थिति, निर्माण के प्रतिपादक इन यज्ञों में जहाँ कहीं भी गौ, अश्व आदि पशुओं का नाम लेकर पशुयज्ञ का प्रसंग आया है, वहाँ सर्वत्र सृष्टियज्ञ की प्रक्रिया अर्थात् सृष्टि के निर्माण एवं विनाश की क्रियाओं को द्योतित किया जाता है।

यज्ञों में विहित पशुयज्ञों में सृष्टि निर्माण की विनाशात्मक प्रवृत्ति=क्रिया को **असुर** तथा सृजनात्मक प्रवृत्ति=क्रिया को **देव** संज्ञा से कहा जाता है[११]।

विनाशात्मक प्रवृत्ति वाली याग की प्रक्रियायें पशुयाग या असुरयाग कही जाती हैं। सर्जनात्मक प्रवृत्ति वाली प्रक्रियायें देवयज्ञ कही जाती हैं। **विनाशात्मक**=आसुर यज्ञ में पशु कौन से होते हैं? इसका ज्ञान यजुर्वेद के २३ वें अध्याय के मन्त्र से भली भाँति हो जाता है। मन्त्र है-

**अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त।**
**वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त।**
**सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त।** यजु. २३/१७

अर्थात् सृष्टि यज्ञ में अग्नि, वायु और सूर्य विनाशात्मक यज्ञ के पशु थे।

परमेष्ठी परमात्मा ने इन अग्नि आदि नामों वाले अधिदैव पशुओं से सृष्टि का निर्माण किया। अग्नि आदि पशुओं के यजन का तात्पर्य है कि सृष्टि निर्माण में इन देवों का जो अवाञ्छनीय भाग था, उसको नष्ट करना यानी उपयोग में न लेना। यज्ञों में अनुष्ठित पशुयाग कर्म अग्नि, वायु आदि पशुओं की वाञ्छनीयता, उपयोगिता के रहस्य को प्रकट करने वाले हैं।

जैसे मानवीय भवन आदि निर्माण में ईंट आदि का उपयोग होता है, पर मकान में ईंट को सही बैठाने के लिए उस ईंट को तोड़ा व काटा भी जाता है। कभी कोने से, कभी मध्य से, कभी बीच से, दाँये बाँये से, तब मकान सही बनता है। ईंट उपयोगी है, पुनरपि काटी जाती हैं।

मकान निर्माण के समान सृष्टि निर्माण में भी अग्नि, सूर्य, वायु आदि दैविक पदार्थों का जहाँ जितना जिसका उपयोग हुआ, वह देवयज्ञ कहलाया। जहाँ उनका उपयोग नहीं हुआ, वह असुरयज्ञ कहलाया।

**देवेभ्योऽश्वमालभन्ते।** शत.ब्रा.११/२/५/१, दर्श, पूर्णमास याग के मध्य में होने वाली अश्वमेध प्रक्रिया के इस वाक्य का यही तात्पर्य है कि देवों=पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि के लिए, **अश्वम्**=सूर्य को द्युलोक में, **आ**

**लभन्त**=नियुक्त व विभक्त किया जाता है।

अश्वमेध आदि पशुयज्ञों को ही ब्राह्मण व श्रौत ग्रन्थों में पशुबन्ध संज्ञा दी गई है। पशुबन्ध शब्द ही बताता है कि ये पशु बाँधे जाने वाले, नियुक्त किये जाने वाले हैं, इनका **वध**=हिंसा से कोई तात्पर्य नहीं है। यदि **पशुबन्ध** का अर्थ हिंसा होता तो इन यज्ञों की **पशुवध** संज्ञा होती।

**पशुबलि के दोषी भाष्यकार**

उव्वट, महीधर आदि भाष्यकारों ने यज्ञों में चौपाये पशुओं का सम्बन्ध जोड़कर यजुर्वेद के मन्त्रों का पशुबलि परक अनेकत्र अर्थ किया है। इन भाष्यकारों ने यजुर्वेद के षष्ठ, सप्तम, अष्टम अध्यायों को अग्निष्टोम याग के अग्नीषोमीय सवनीय पशु के काटने, धोने, वपा उखेड़ने आदि में विनियुक्त किया हुआ है। यथा-

**घृतेनाक्तौ**, यजु.६/११ मन्त्र से पशु को काटा जाता है।

**वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि**, यजु.६/१४ मन्त्र से यजमान की पत्नी मृत पशु के मुख से लेकर गुदा पर्यन्त अंगों को शुद्ध करती है।

**ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः**, यजु.११/१५ मन्त्र से मृत पशु की छाती की त्वचा को उधेड़ा जाता है।

**सं ते मनो मनसा**, यजु.६/१८, मन्त्र से पुश का हृदय **यथा च-पशुहृदयम् अभिधारयति सं ते मनः**, उव्वट भा. यजु. ६/१८, छौंका जाता है।

**समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ**, यजु.६/२१ मन्त्र से काटे हुए पशु की गुदा के भाग से ११ आहुतियाँ दी जाती हैं।

उपर्युक्त मन्त्रों का उव्वट, महीधर आदि द्वारा चौपाये पशुओं को काटना एवं उनसे हवि देना आदि परक किया गया अर्थ पूर्वापर प्रकरण से सर्वथा असंगत तथा पापयुक्त है। इन मन्त्रों में कहीं पर भी पशु कर्तन का नामोल्लेख नहीं है।

**मन्त्रों की यथार्थता**

**घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाम्**, यजु.६/११ मन्त्र में घृत चाहने वाले के लिये

पशु की रक्षा का संदेश है।

**वाचं ते शुन्धामि**, यजु.६/१४ मन्त्र में गुरु और शिष्य सम्बन्ध व शिक्षा का प्रतिपादन है। शिक्षा विषय को प्रकृत मन्त्र के **चरित्राँस्ते शुन्धामि** पद सुस्पष्ट निर्दिष्ट कर रहे हैं।

**ओषधे त्रायस्व**, यजु.६/१५ मन्त्र में शिष्य किस प्रकार से मन की गति के विज्ञान को जानकर प्राण स्वरूप परमात्मा से मिले इसका प्रतिपादन है।

**समुद्रं गच्छ**, यजु.६/२१ मन्त्र में शिष्य को किन समुद्र, अन्तरिक्ष आदि ज्ञानों की आवश्यकता है, जिनसे पुरुषार्थ आदि की सिद्धि होती है, उन शिक्षाओं व शिक्षा पदार्थों का वर्णन है।

वेद एवं वैदिक ग्रन्थों में यज्ञ प्रसंग में आये गौ, अश्व, अज, अवि, वशा आदि शब्द ईश्वर, आधिदैविक पदार्थों व क्रियाओं के वाचक हैं। प्रसंगानुसार गौणिक रूप से ये शब्द गाय, घोड़े आदि पशुओं के भी वाचक होते हैं, पर आहुति विषय में नहीं। अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि शब्दों का घोड़े, गाय आदि पशुओं तथा मनुष्य को मारकर होम करना अर्थ नहीं है। इन शब्दों का गौ आदि को मारना अर्थ तो वाममार्गियों ने किया है।

**अश्व** शब्द **अग्नि**[१२], **राष्ट्र**[१३] आदि का वाचक है। **मेध** शब्द का **आज्य**[१४]=घृत अर्थ है। इस प्रकार **अश्वमेध** का अर्थ हुआ-**अग्नि में घी आदि पदार्थ द्वारा होम करना** तथा **राष्ट्र की रक्षा व उसे संगठित करना।**

**गोमेध** शब्द में आये **गौ** शब्द के भी अनेक अर्थ हैं। अन्न को भी गौ कहते हैं[१४], पृथिवी को भी गौ कहते हैं[१५]। इस प्रकार **गोमेध** शब्द का अर्थ हुआ-**अग्नि में घी से होम करके अन्न व पृथिवी का शोधन करना** तथा **अन्न व पृथिवी का संग्रह करना, मिलाना**।

**नरमेध** शब्द का अर्थ हुआ-**मनुष्य के मरने पर उसका विधिपूर्वक अन्त्येष्टि संस्कार करना**।

**मेधृ संगमे च** धातु में लगे **चकार** शब्द से यद्यपि **हिंसा** अर्थ भी **मेध**

शब्द का अर्थ होता है अर्थात् **मेध** शब्द के **संगठन और हिंसा** ये दो अर्थ होते हैं, तथापि दोनों अर्थों का यथासंभव ही विनियोजन होगा, सर्वत्र नहीं।

**अवि, अज आदि शब्द पशुवाचक नहीं**

वेदों में आया **अवि** शब्द ईश्वर व पृथिवी का प्राधानिक नाम है[१६], गौणिक नाम भेड़ का है।

इसी प्रकार **अज** आदि शब्द भी ईश्वर, जीव व उत्पन्न न होने वाले बीजों का वाचक है।

यज्ञ प्रसंग में आये वेदोक्त **अवि, अज** आदि शब्द ईश्वर तथा आधिदैविक पदार्थों व क्रियाओं के मुख्य रूप से वाचक होते हैं, यह मीमांसा दर्शन के **गुणवादस्तु**, मीमां.१/२/१० सूत्र की व्याख्या में पठित **यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात्, स एतं प्राजापत्यं तूपरमालभेत...। स आत्मनो वपामुदक्खिदत्**, शा.भा.मीमां.१/२/१० इस वाक्य की शबर स्वामी द्वारा की गई व्याख्या से बहुत ही सुस्पष्ट हो जाता है। उपर्युक्त वाक्य का अर्थ है-

अर्थात् जो प्रजा की कामना वाला अथवा पशु की कामना वाला होवे, वह इस प्रजापति देवता वाले सींग रहित पशु को प्राप्त करे। उसने अपने शरीर की वपा को उखेड़ा।

शबर स्वामी का कहना है कि इस वाक्य में गुणवाद है। इस वाक्य में वपा उखेड़ने की प्रशंसा की गई है। शबर स्वामी कहते हैं-

**नित्यः कश्चिदर्थः प्रजापतिः स्यात्-वायुराकाश आदित्यो वा।** शा.भा.मीमां.१/२/१०

अर्थात् कोई नित्य पदार्थ प्रजापति है अर्थात् वायु, आकाश, आदित्य।

**स आत्मनो वपामुखक्खिददिति-वृष्टिं वायुं रश्मिं वा।** शा. भा. मीमां.१/२/१०

अर्थात् उसने अपनी वपा को उखेड़ा इसका तात्पर्य है कि वृष्टि, वायु या किरणों को प्रकट किया।

**तामग्नौ प्रागृह्णात्-वैद्युते, आर्बीसे, लौकिके वा।**

शा.भा.मीमां. १/२/१०

उस वपा को अग्नि में छोड़ा, का तात्पर्य है कि विद्युत्, **आर्बीस**=जठराग्नि तथा लौकिक अग्नि में सम्बन्धित किया।

**ततोऽज इति-अन्नं बीजं वीरुद् वा।** शा.भा.मीमां.१/२/१०

अर्थात् **ततः**=तब उससे, **अजः**=अनुत्पन्न उत्पन्न हुआ यानी अन्न, बीज व लतायें उत्पन्न हुईं।

शबर स्वामी ने मीमांसा दर्शन के इस प्रकरण में सृष्टि उत्पत्ति की उस स्थिति का निर्दिष्ट किया है, जब पृथिवीलोक रूप अजपशु उत्पन्न हुआ और वह **तूपर**=शृंग रहित था। उस पर शृंग स्थानीय औषधि, वनस्पतियाँ उत्पन्न नहीं हुई थीं। पृथिवी की यह अवस्था तूपर अज व वशा अवि कही गई है। पुनः, सूर्य, वायु, अग्नि आदि के स्पर्श=संयोग से अन्न, बीज आदि उत्पन्न हुये।

मीमांसा दर्शन के इस प्रकरण से स्पष्ट है कि **अज** संज्ञा न उत्पन्न होने वाले अन्न, बीज आदि की है, बकरी की नहीं। अनुत्पन्न अन्न आदि की अज संज्ञा होती है, इसके प्रमाणक संस्कृत वाङ्मय के अनेकों वचन हैं[१८]।

इस प्रकार सिद्ध है कि वेदों में हिंसा का विधान नहीं है, यज्ञों में हिंसा का प्रचलन तो महाभारत काल में प्रारम्भ हुआ है। वसिष्ठ सूत्र[१९], चरक[२०], एवं महाभारत[२१] आदि ग्रन्थों में विस्तार से कथन किया गया है कि राजा इन्द्र ने ही सर्वप्रथम यज्ञ में हिंसा कार्य प्रारम्भ किया। यह इन्द्र शब्द इन्द्र, नहुष, पृषध्र इन ३ नामों से जाना जाता है।

**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** वाममार्गियों के इस कथन से यज्ञ ही दूषित नहीं हुए लोक में भी लोगों की मांसाहार करने की प्रवृत्ति बढ गई। जो आज नासूर की तरह फैली हुई है। इस मांसाहार से ब्राह्मण भी अछूते नहीं रहे, उन्होंने भी खूब जमकर मांस खाया।

### यज्ञीय पशुहिंसा के समर्थक वर्तमान कालिक ब्राह्मण

आज भी कुछ ऐसे पण्डित हैं, **जो वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** के समर्थक हैं व यज्ञों में होनेवाले मांसाहार को उचित समझते हैं। ऐसे पण्डितों की वाराणसी में भी कमी नहीं है। वर्तमान में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के धर्मशास्त्र, मीमांसा विभाग के भूतपूर्व प्रवक्ता आचार्य राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय ने १९९६ में **धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम** एक पुस्तक लिखी है। उस पुस्तक के १०वें अध्याय में यज्ञों का वर्णन है। स्मार्त यज्ञ प्रसंग में उन्होंने **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** के समर्थन स्वरूप जो पंक्तियाँ लिखी हैं, वे अत्यन्त वेदविरोधी एवं यज्ञों के रहस्य को मन्द करने वाली हैं। उनकी वे पंक्तियाँ हैं-

जैन एवं बौद्ध धर्म के धार्मिक आन्दोलनों से अहिंसा का सामाजिक महत्त्व बढ़ गया। **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** इस प्रमाण को जन साधारण मानने को तैयार न था, फलस्वरूप श्रौतयज्ञों का स्थान स्मार्तयज्ञों ने ले लिया। पुराणों में यज्ञान्तर्गत पशुहिंसा का भी विरोध परिलक्षित होने लगा। यथा-

**यज्ञं कृत्वा पशुं हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दनम्।**
**यद्येवं गम्यते स्वर्गो नरकः केन गम्यते॥** पद्म पु.सृ.ख. १३/३३२

अर्थात् पशु मारकर, रुधिर का कीचड़ कर एवं यज्ञ करके स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तो नरक में कौन जाता है ?

भागवत पुराण भी पशुहिंसा को वेद विरुद्ध बताता है।

धर्मशास्त्र इति.अ. १०, पृ. २५७-२५८

लेखक की इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि वे यज्ञ में पशुहिंसा को उचित मानते हैं। अन्य ब्राह्मण भी पशुहिंसा को उचित मानते हैं।

### पशुहिंसा विरोधी पण्डित

इन ब्राह्मणों के मध्य आधुनिक पण्डित शास्त्रार्थ महारथी कहे जाने वाले

श्री माधवाचार्य शास्त्री एक ऐसे पण्डित हैं, जो **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** के समर्थक नहीं हैं। श्री माधवाचार्य शास्त्री ने हिन्दू धर्म के परिप्रेक्ष्य में **'क्यों?'** नामक पुस्तक दो भागों में लिखी है। उसके उत्तरार्ध भाग में माधवाचार्य ने **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** इस कथन का खण्डन किया है। मांसभक्षण का खण्डन करते हुए उन्होंने मनुस्मृति, वेद, तैत्तिरीय संहिता आदि के **न कृत्वा प्राणीनां हिंसा.** मनु.५/४८, **य आमं मांसमदन्ति.** अथर्व. ८/७/२३, **न मांसमश्नीयात्.** तै.सं. १/१/९/४ आदि बहुत से प्रमाण उपस्थित किये हैं।

**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** व मांसभक्षण का खण्डन करते हुए कई तर्क भी प्रस्तुत किये हैं। यथा-

१. मांसभक्षी कुत्ता, बिल्ली, सिंह, बाघ के समान मनुष्य के दाँत, नाक आदि अंग नहीं हैं, अतः मनुष्य को मांस नहीं खाना चाहिये।

२. मांसाहारी पशु जीभ से पानी पीते हैं और अमांसभक्षी मनुष्य एवं गाय, भैंस आदि घूँट-घूँट कर पानी पीते हैं, अतः मनुष्य के लिये अखाद्य है।

३. मांसाहारी आध्यात्मिक नहीं होते, मनुष्य आध्यात्मिक होते हैं, अतः मांस अभक्ष्य है।

४. सूअर, कुक्कुट, मत्स्य आदि मल खाते हैं, अतः मनुष्य के लिये मांस अभक्ष्य है।

५. पांचवाँ तर्क दिया है कि-**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** वाक्य मांस खाने का समर्थक नहीं है, अपितु यह वाक्य मांसभक्षण का प्रतिषेध करने वाला है। यह कथन परिसंख्या रूप है। शनैः-शनैः मांस छोड़ने के तात्पर्य वाला है। ज़ैसे-**पञ्च पञ्च नखाः भक्ष्याः**[22], अर्थात् ५ नखों वाले ही भक्ष्य हैं, अन्य नहीं। यह कथन अन्य जीवों के भक्षण की निवृत्ति के लिये है। इस प्रवृत्ति रूप निवृत्ति वाक्य का तात्पर्य होता है कि न वे शशक होंगे, न मांस खाया जायेगा। इसी प्रकार **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** अर्थात् यज्ञ में की

गई पशुहिंसा हिंसा नहीं है अर्थात् पशु मात्र यज्ञ में कटेंगे और खाये जायेंगे, अन्यत्र नहीं। यह कथन भी मांसभक्षण का ही निषेधक है, क्योंकि यज्ञ प्रभूत धन, काल, दिन आदि की बाध्यंता से होते हैं और उनमें ही पशुयज्ञ होते हैं। न नो मन तैल होगा, न राधा नाचेगी अथवा न नो मन तैल, न नाच, की भाँति व्यय, काल आदि से साध्य होने से न यज्ञ होंगे, न पशु काटेंगे। क्योंकि यज्ञ सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है। इन व्यय साध्य यज्ञों में राजा सदृश का ही अधिकार है।

इस प्रकार **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** वाममार्गियों के वाक्य को प्रमाण मानकर यज्ञों में पशुबलि देना व समर्थन करना बहुत बड़ा पाप है, यज्ञ का संविधान नहीं।

सम्पर्क : पाणिनि कन्या महाविद्यालय, वाराणसी-१०

**सन्दर्भ :**

**१. चा.नी.द. १६/५।**

**२. यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते। ऐ.ब्रा.१/२/३/१।**

**३. सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः।**
**सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपियन्ति नूतना यानृषयो सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः।**
**गो.ब्रा. १/५/२५।**

**४. सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः।**
**बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः। गो.ब्रा.१/५/२३।**

**५. अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यामावास्ये।**
**नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तम इत्येते हविर्यज्ञाः॥ गो.ब्रा.१/५/२३।**

**६. अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्य षोडशिमांस्ततः।**
**वाजपेयोऽतिरात्रश्चाप्तोर्यामात्र सप्तम इत्येते सुत्याः॥ गो.ब्रा.१/५/२३।**

**७. यज्ञ-जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त जो शिल्प-व्यवहार और जो पदार्थ-विज्ञान है, जो कि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है, उसको 'यज्ञ' कहते हैं।**

**८. वाग्घ वा एतस्याग्निहोत्रस्याग्निहोत्री। मन एव वत्सस्तदिदं मनश्च वाक् च समानमेव सन्नानेव तस्मात् समान्या रज्ज्वा वत्सं च मातरं चाभिदधति, ते च एव श्रद्धा सत्यमाज्यम्।**
**शत.ब्रा. ११/३/१/१-८।**

**९. एष वै पूर्णमाः। य एष तपत्यहरहर्ह्येवैष पूर्णोऽथैष एव दर्शो यश्चन्द्रमा ददृश इव ह्येष। शत.ब्रा.११/२/१-४,११/२/७/१-३३।**

१०. अथाध्यात्मम् । उदान एव पूर्णमा उदानेन ह्ययं पुरुषः पूर्यत इव प्राण एव दर्शो ददृश इव ह्ययं प्राणस्तदेतावन्नादश्चान्नप्रदश्च दर्शपूर्णमासौ । शत.ब्रा.१२/२/४/५-१० ।

११. असुरेषु वा एषोऽग्रे यज्ञ आसीत् सौत्रामणी । स देवान् उपप्रैत् ।

१२. अग्निर्वा अश्वः । शत.ब्रा.३/५/१/५

१३. राष्ट्रं वा अश्वमेधः । शत.ब्रा.१३/१/६/३

१४. आज्यं मेधः । शत.ब्रा.१३/२/११/२ । मेधृ संगमे च ।

१५. अन्नं हि गौः । शत.ब्रा.४/३/१/२५

१६. गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद्दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति । निरु.२/२/१

१७. अविरासीत् पिलिप्पिला । यजु.२०/१२

१८. (१) यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते । त्रिवर्षपरमं कालमुषितैरप्ररोहिभिः ॥

वायु. पु. ५७/१००-१०१

(२) बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वै बध्यते पशुः ॥ महाभा. शान्तिप. ५१/१०

(३) एतेऽपि याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति,
ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति ।
तत्र किलैतदुक्तम्-अजैर्यष्टव्यम् ।
अजा व्रीहयः सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषः ॥ पञ्चतन्त्र ।

१९. त्रय एव पुरा रोगाः ईर्ष्यानशनं जरा । पृषध्रस्त्वघ्नियां हत्वा अष्टानवतिमाहरत् ॥

वसि. सू. २१/२३

२०. ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः । अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामलाभाद्गवामालम्भः प्रवर्तितः । तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः, तेषां चोपयोगादुपाकृतानां गवां गौरवादौष्ण्यादसात्म्यत्वादशस्तोपयोगाच्चोपहताग्नीना-मुपहतमनसां चातीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे ॥ चर. चिकि. १९/४

२१. कस्य वै को मतः कामो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः ।
धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकं नराधिप ॥
देवानां तु पशुः पक्षो मतो राजन् वदस्व नः ।
देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसुना पक्षसंश्रयात् ॥
छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा । कुपितास्ते ततः सर्वे मुनयः सूर्यवर्चसः ॥

महाभा. शान्तिप. ३३७/१२-१४

२२. महाभा. नवा. पृ. ३२

# यजुः संहिता में प्रतीक पुनरुक्ति विमर्श

-डॉ. वेदपाल, मेरठ (उ.प्र.)

वेद का अध्ययन करते समय अध्येता की दृष्टि जहां ठहर जाती है, उन स्थलों में महत्त्वपूर्ण वे स्थल हैं, जहां मन्त्र, मन्त्रपाद, अर्धर्च अथवा टेक के रूप में कतिपय पदों की आवृत्ति दिखाई देती है। यदि अध्येता गम्भीर है, तब शब्द वैभिन्न्य के होते हुए भी अर्थसादृश्य को देखकर उसे वेद की गरिमा एवं महिमा में न्यूनता दिखाई देने लगती है। इस प्रकार के आवर्तन को पुनरुक्ति कहा गया है। न्यायदर्शन में पुनरुक्त निग्रह स्थानों में परिगणित है[१]। शब्द अप्रामाण्यवादियों की दृष्टि में वेद का पुनरुक्त दोष से दूषित होना वेद अप्रामाण्य पक्ष का प्रमुख हेतु है[२]।

आधुनिक युग में इस प्रकार की पुनरुक्तियों का प्रथम एवं व्यवस्थित विवेचन M. Bloomfield द्वारा किया गया है। M. Bloomfield ने ऋग्वेद में आवृत/पुनरुक्त मन्त्रसमूह, मन्त्र, मन्त्रपाद, सूक्ति आदि की आवृत्तियों का दस भागों में वर्गीकरण करके विवेचन किया है[३]। सम्प्रति वेद पर आक्षेप करने वालों का आधार Bloomfield का विवेचन ही है।

भारतीय मनीषा अतिपुराकाल से ही वेद के प्रत्येक पद ही नहीं, अपितु प्रत्येक अक्षर एवं मात्रा तक की गणना एवं विचार करती रही है। अतः ऋषि दृष्टि से वेद का कोई पद अविवेचित रहा हो, ऐसा सम्भव नहीं।

**परिभाषा** - न्यायदर्शनकार ने 'शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्त-मन्यत्रानुवादात्'[४]-अनुवाद को छोड़कर शब्द अर्थ के पुनर्वचन को पुनरुक्त माना है। प्रस्तुत सूत्र के **'अन्यत्रानुवादात्'** भाग को छोड़कर शेष परिभाषा भाग को सभी पाश्चात्य एवं तदनुगामी पौरस्त्य विद्वान् यथावत् स्वीकार करते हैं।

भाष्यकार वात्स्यायन ने 'अनुवादोपपत्तेश्च'[५] सूत्र के भाष्य में - 'पुनरुक्तदोषोऽभ्यासे नेतिप्रकृतम्। अनर्थकोऽभ्यासः पुनरुक्तः, अर्थवानभ्यासोऽनुवादः' अर्थवान् अभ्यास को अनुवाद तथा निरर्थक अभ्यास को पुनरुक्त माना है। अर्थात् अनुवाद की उपपत्ति होने के कारण अभ्यास में दिया गया पुनरुक्त दोष यथार्थ नहीं है। स्वयं सूत्रकार ने **'अनुवादे त्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः**[६]**'** विशेष अर्थ की प्रतीति के कारण अनुवाद में शब्दाभ्यास को अपनुरुक्त प्रतिपादित किया है।

निरुक्तकार यास्क ने पुनरुक्तिदोष पर विचार करते हुए प्रथम पूर्वपक्ष स्थापित कर, तदनु समाधान प्रस्तुत किया है। यास्क ने एक ही मन्त्र में समानार्थक[७] तथा एक ही पाद में समानार्थक[८] इन दो प्रकार की पुनरुक्तियों को पूर्वपक्ष में रखकर तदनन्तर-'यथा कथा च विशेषोऽजामि भवतीत्यपरम्।' मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव इति। अर्थात् ऐसे स्थलों में जिस किसी तरह कुछ न कुछ अर्थ में विशेषता अवश्य होती है। यह समाधान पक्ष सोदाहरण प्रस्तुत किया है।

यास्क के अनुसारभ-**'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते, यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति**[१०]**'** अभ्यास से विशिष्ट अर्थ का बोध होता है, जैसे- अहो दर्शनीय, अहो दर्शनीय से अभिप्राय है-अत्यधिक दर्शनीय।

वेदभाष्यकारों में पुनरुक्ति पर सर्वाधिक व्यवस्थित एवं विस्तृत विवेचन **'वेङ्कट माधव'** का है। माधव के अनुसार शब्दावृत्ति के निम्न प्रमुख कारण हैं-

१) स्तुति के अनन्तर पूर्वयाचित वस्तु की पुनःकामना
२) सूक्तियां
३) विधेय पदार्थ का भेद
४) सूक्ष्मभेद (हेतु निर्देश आदि)
५) अधिक अर्थ की प्रतीति

६) वीप्सा

७) कवि स्वभाव आदि[१२]

उक्त सभी के उदाहरण वेङ्कट माधव कृत ऋग्वेदानुक्रमणी के अन्तर्गत शब्दावृत्त्यनुक्रमणी तथा ऋग्भाष्य में द्रष्टव्य हैं।

यजुः संहिता में भी ऋग्वेद के समान ही अनेक मन्त्र, मन्त्रपाद अथवा मन्त्रांश अनेकशः आवृत हुए हैं। ब्लूमफील्ड द्वारा ऋक् पुनरुक्त विश्लेषण की तरह यजुर्वेदीय पुनरुक्तों का कोई विधिवत् विश्लेषण उपलब्ध नहीं है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती पुनरुक्त ऋक् तथा ऋगंशों में प्रकरणानुसार अर्थभेद मानते हैं। यजुर्वेद के भाष्यकार उव्वट एवं महीधर[१३] ऐसे स्थलों पर भाष्य न करके पूर्व स्थल पर किये गये भाष्य की ओर सङ्केत कर देते हैं। तद्यथा-'देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं न स्वदतु स्वाहा[१५]। इस मन्त्र के अ. ११/७ में **'देव सवितः.... वाचं न स्वदतु'** इस आंशिक ('वाजं' के स्थान पर 'वाचं' तथा 'स्वाहा' के अपठित रहते) परिवर्तन पूर्वक पुनरुक्त होने पर उव्वट - 'देव सवितरिति व्याख्यातम्। इयांस्तु विशेषः। वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु इति। वाचा वा इदं कर्म प्राणो वाचस्पतिः' इति तथा 'अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता। गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पुरुषम्''। (१२-७९) इस मन्त्र के ३५/४ में सर्वांशतः पुनरुक्त होने पर उव्वट - 'अश्वत्थे व इति व्याख्यातम्' एवं महीधर-अनुष्टुप् व्याख्याता कहकर पुनः व्याख्यात नहीं करते हैं। इसी प्रकार २३/९/१० के उसी अध्याय में पुनः ४५-४६ पढ़े जाने पर तथा ११/३७ के ३८/१७ में परिवर्धित रूप में पढे जाने पर पुनरुक्त अंश की व्याख्या नहीं करते हैं।

मध्यकालीन उव्वट महीधर आदि भाष्यकारों द्वारा आवृत्त मन्त्रों को व्याख्यातम् / व्याख्याता आदि कहकर छोड़ देने के कारण वेद में पुनरुक्ति दोष है-इस मान्यता को आधार प्राप्त हुआ है। जबकि वेङ्कट के अनुसार

तिलमात्र का भेद होने पर अर्थ भेद होता है। इस सूक्ष्म भेद अर्थ को अप्रज्ञ नहीं जान सकते हैं-

**तिलमात्रे भिद्यमाने पुनश्चाधीयते पदम्।**

**स सूक्ष्मः शक्यते ज्ञातुं नाप्रज्ञैरिति निर्णयः॥**[१५]

अप्रतिम वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती इसी सूक्ष्म भेद को दृष्टिगत रखते हुए वर्णमात्र की भिन्नता (यथा वाचं ११/७ तथा वाजं ९/१) अथवा अक्षरशः सादृश्य होने पर भी देवताभेद (अश्वत्थे वो निषदनं... १२/७९ देवता-वैद्यः; इसी मन्त्र के ३५/४ में देवता वायु संवितारौ) के आधार पर अर्थभेद करते हैं। तद्यथा-वैद्य देवताक मन्त्र का महर्षिकृत भावार्थ-''मनुष्यैरेवं भावनीयमस्माकं शरीराण्यनित्यानि स्थितिश्चञ्चलास्ति तस्माच्छरीरमरोगिनं संरक्ष्य धर्मार्थकाममोक्षाणा-मनुष्ठानं सद्यः कृत्वाऽनित्यैःसाधनैर्नित्यं मोक्षसुखं खलुलब्धव्यम्। यथौषधितृणादीनि पत्रपुष्पफलमूलस्कन्धशाखादिभिः शोभन्ते तथैव नीरोगाणि शोभमानानि भवन्ति। तथा वायुसविता देवताक मन्त्र का भावार्थ-''मनुष्यैरनित्ये संसारेऽनित्यानि शरीराणि पदार्थांश्च प्राप्य क्षणभङ्गुरे जीवने धर्माचरणेन नित्यं परमात्मानमुपास्याऽत्मपरमात्म-संयोगजं नित्यं सुखं प्रापणीयम्।'' यहां दोनों मन्त्रों में सूक्ष्मभेद स्पष्ट है। प्रथम मन्त्र में शरीरों के अनित्य होते हुए भी इन्हें नीरोग रखकर मोक्षसुख प्राप्त करने तथा द्वितीय स्थल पर क्षणभंगुर जीवन में धर्माचरण द्वारा परमात्मा की उपासना करते हुए आत्म-परमात्म के संयोग से उत्पन्न सुख प्राप्ति का सन्देश दिया गया है। महर्षि भाष्य में अन्यत्र भी इसी प्रकार का सूक्ष्म भेद प्रदर्शित है[१६], जिससे पुनरुक्ति विषयक शङ्का अपास्त हो जाती है।

यजुर्वेद में मन्त्र, मन्त्रपाद या मन्त्रांश की आवृत्ति के अतिरिक्त एक अन्य आवृत्ति या पुनरुक्ति है-प्रतीक पुनरुक्ति।

कर्मकाण्डीय ग्रन्थ-श्रौत एवं गृह्यसूत्रों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में स्व-स्व शाखा के मन्त्रों का विधान/व्याख्यान करते समय मात्र मन्त्र के प्रारम्भिक

पद को प्रतीक रूप में उद्धृत कर दिया जाता है। इससे समग्र मन्त्र को गृहीत समझा जाता है। परशाखीय मन्त्र समग्र रूप में उद्धृत होते हैं। इसी प्रकार शुक्ल यजुः संहिता में भी कतिपय मन्त्रों के अन्त में कुछ मन्त्र प्रतीक उपलब्ध हैं।

प्रतीक पुनरुक्ति के रूप में उन्हीं मन्त्रों को लिया जा सकता है, जिनके अन्त में किसी मन्त्र की प्रतीक (प्रारम्भिक पद) दी गयी हैं। यजुर्वेद में ऐसे प्रतीकों की संख्या दो से लेकर छः तक हैं। ऋग्वेद में इस प्रकार की प्रतीक पुनरुक्ति उपलब्ध नहीं हैं। अतः ब्लूमफील्ड अथवा वेङ्कट माधव द्वारा इनके विवेचन की सुगमता की दृष्टि से आरोहक्रम से निम्नवत् हैं-

**प्रतीक द्वय** (१) आ सुते सिञ्चत क्षिय ँ रोदस्योरभिक्षियम्। रसादधीतवृषभम्॥ ३३/२१

(२) दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः। आ यात ँ रुद्रवर्तनी॥ ३३/५८

(३) दैव्यावध्वर्यू आ गत ँ रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञ ँ समञ्जाथे॥ ३३/७३

इन तीनों मन्त्रों के अन्त में 'तं प्रत्नथा' १७ तथा 'अयं वेनः[१८] ये दो दो प्रतीक हैं।

**प्रतीक त्रय** (१) इयमुपरिमतिस्तस्यै ..... प्रजाभ्यः। १३/५८

(२) अनड्वान् वयः.... अनुष्टुप् छन्दः। १४/१०

(३) यन्त्री राड्.... पोषाय त्वा। १४/२२

(४) नवविं ँ शत्यास्तुवत... अधिपतिरासीत्। १४/३१

इन चारों मन्त्रों के अन्त में 'लोकं ता इन्द्रम्' यह प्रतीक भाग पठित है, जिसके 'लोकं' पद से -''लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवात्वम्। इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन्''-१२-५४; 'ता' पद से-''ताऽअस्य सूददोहसः सोम ँ क्षीणन्ति पृश्नयः। जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः''-

१२/५५ तथा 'इन्द्रम्' पद से ''इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः। रथीतमꣳ रथीनां वाजाना सत्पतिं पतिम्''-१२/५६ इन तीन मन्त्रों को ग्रहण किया जाता है।

२. न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः -३२/३ इस मन्त्र के साथ 'हिरण्यगर्भऽइत्येष'[१९] मा मा हिꣳसीदित्येषा[२०], यस्मान्न जातऽइत्येष[२१] ये तीन मन्त्र प्रतीक दी गयी हैं।

३. कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः .... यत्तेऽअस्मे-३३/२७ मन्त्र पर 'महाँऽइन्द्रो य ओजसा[२२] 'कदा चनस्त्रीरसि'[२३], 'कदाचन प्रयुच्छसि'[२४] ये तीन मन्त्र प्रतीक हैं।

४. दैव्यावध्वर्यूऽ आ गतं .... समञ्जाथे। ३३/३३ मन्त्र पर 'तं प्रत्नथा', 'अयं वेनः और 'चित्रं देवानां'[२५] ये तीन मन्त्र प्रतीक हैं।

इस प्रकार उक्त सात मन्त्रों पर तीन-तीन प्रतीक हैं।

**प्रतीक चतुष्टय**-(१) 'अस्येदिन्द्रो वावृधे .... ष्टुवन्ति पूर्वथा' - ३३/९७ इस मन्त्र पर 'इमाऽउ त्वा'[२६], 'यस्यायम्'[२७], अयसहस्त्रम्[२८] तथा 'ऊर्ध्वऽ ऊ षु णः'[२९] ये चार मन्त्र प्रतीक हैं।

(२) ब्रह्मणस्पते त्वमस्य .... विदथे सुवीराः। ३४/५८ मन्त्र के साथ 'यऽइमा विश्वा[३०], 'विश्वकर्मा विमना'[३१], 'यो नः पिता जनिता[३२], तथा 'अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि'[३३] ये चार मन्त्र प्रतीक हैं।

**प्रतीक षट्क**-अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम्। इता मरुतोऽ-अश्विना' -३३/४७ यह एक ऐसा मन्त्र है, जिस पर निम्न छः प्रतीक हैं-'तं प्रत्नथा', 'अयं वेनः', 'ये देवासः' ३४, 'आ नऽइडाभिः'[३५] 'विश्वेभिः सोम्यं मधु'[३६] तथा 'ओमासश्चर्षणीधृतः[३७]।

इस प्रकार यजुःसंहिता के दो-दो प्रतीकयुक्त तीन मन्त्र, तीन-तीन प्रतीकयुक्त सात मन्त्र, चार-चार प्रतीक युक्त दो मन्त्र तथा छः प्रतीक युक्त एक मन्त्र है। कुल तेरह मन्त्रों में इकतालिस प्रतीक हैं। इनमें भी उन्नीस प्रतीक

एक बार ही प्रयुक्त हैं। तीन प्रतीक चार-चार तथा दो प्रतीक तं प्रत्नथा, अयं वेनः पांच-पांच बार आवृत हैं। (19x1=19; 3x4=12; 2x5=10=41) यदि इनकी आवृत्ति की पौनः पुन्येन गणना न करें तब तेरह मन्त्रों में चौबीस मन्त्रों की ही प्रतीक पुनरुक्त हुई हैं। 'न तस्य प्रतिमाऽअस्ति'-३२-३ पर अनुवाकान्तर्गत ऋचाओं को पृथक् गिनने पर इस संख्या चौबीस में चार की वृद्धि हो जाती है। इन तेरह मन्त्रों को अध्याय की दृष्टि से देखें तो एक मन्त्र (३ प्रतीक) अध्याय-१३, तीन मन्त्र (३-३ प्रतीक) अध्याय-१४, एक मन्त्र (३ प्रतीक) अ. ३३ तथा, एक मन्त्र (४ प्रतीक) अध्याय-३४ में है।

**प्रतीक पुनरुक्तों का मन्त्रभाक्त्व** – प्रस्तुत प्रतीक मन्त्रभाग हैं अथवा नहीं, इसे जानने का महत्त्वपूर्ण बाह्य साधन है-मन्त्र का छन्द। छन्द की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि-ये प्रतीक मन्त्र का भाग नहीं हैं। तद्यथा-'आ सुते सिञ्चत क्षिय ँ रोदस्योरभिक्षियम्। रसा दधीत वृषभम्' ३३-२१ का छन्द निचृद्गायत्री है[३८]। प्रतीक पद छन्द से बाहर हैं। वैसे 'तं प्रत्नथा', 'अयं वेनः' के छन्द क्रमशः आर्षीजगती एवं साम्नी गायत्री हैं। इसी प्रकार 'दस्रा युवाकवः.... ३३-५८ का छन्द गायत्री तथा 'दैव्यावध्वर्यू... ३३-७३ का निचृद् गायत्री है। इस प्रकार इन तीनों ही मन्त्र के छन्द की दृष्टि से प्रतीक मन्त्रबाह्य हैं। शेष प्रतीक युक्त मन्त्रों की भी यही स्थिति है। किन्तु 'न तस्य प्रतिमा..... ३२-३ मन्त्र की स्थिति कुछ भिन्न है -

सर्वानुक्रमसूत्र में -'तदेव सर्वमधोऽध्याय आत्मदैवतः सप्तमेऽहनि सर्वहोमे विनियुक्तः ..... न तस्य द्विपदा गायत्री'[३९] इसका छन्द द्विपदा गायत्री है (अ. ३२/३३-५५ तक सर्वमेध; सातवें दिन आप्तोर्याम)। इस दृष्टि से प्रतीक मन्त्रबाह्य होने चाहिएं।

इसी मन्त्रस्थ **'हिरण्यगर्भ इत्येष'** इस प्रतीक से चार ऋचाओं -

(१) हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे .... हविषा विधेम॥

(२) यः प्राणतो निमिषतो .... हविषा विधेम॥

(३) यस्येमे हिमवन्तो महित्वा ....हविषा विधेम ॥

(४) यऽआत्मदा बलदा ...हविषा विधेम ॥ यजु. २५-१०-३०

का अनुवाक ; 'मा मा हिसीत् इत्येकषा' प्रतीक से-' मा मा हिसीज्ज निता यः पृथिव्या यो वा दिव सत्यधर्मा व्यानट्हविषा विधेम ॥ यश्चा पश्चन्द्रा प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम-सह एक ऋक तथा 'यस्मान्न जात इत्येषः' प्रतीक से-(१) 'यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यःआविवेश भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया सरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी । तथा-(२) इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्रऽएतम् । तयोरहमनुभक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥८-३६-३७ द्व्यृचोऽनुवाक का ग्रहण किया जाता है[४०], जबकि शेष सभी प्रतीक अपना ही ग्रहण कराते हैं ।

यदि 'हिरण्यगर्भः...' आदि प्रतीक पदों को मन्त्रभाग मानकर छन्द का विचार करें, तब 'न तस्य.' मन्त्र का छन्द होगा-पंक्ति । यहां यह स्मरणीय है कि महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र का छन्द निचृत् पंक्ति माना है । महर्षि अभिमत छन्द का मूल अन्वेष्य है । क्योंकि सर्वानुक्रम सूत्र में इसका छन्द द्विपदा गायत्री कहा गया है ।

महर्षि ने समग्र प्रतीकों में से मात्र इसी मन्त्र के साथ पठित प्रतीक को मन्त्रभाग मानते हुए व्याख्यान किया है । यद्यपि 'यद्वा पक्षान्तरम्' कहकर स्यात् परम्परा द्वारा अभिमत एवं अभिहित अनुवाक आदि का सङ्केत भी किया है ।

उवट एवं महीधर अन्यत्र-यथा 'आ सुते.... ३३-२१' पर पठित 'तं प्रत्नथा', 'अयं वेनः' के सन्दर्भ में -'तं प्रत्नथायं वेनः इति द्वे प्रतीके उक्ते' (इसी प्रकार ३३/५८, ७३; १३/५८ पर पठित लोकं ता इन्द्रम् १२/५४-५६ आदि) कहकर अव्याख्यात छोड़ देते हैं, किन्तु यहां-प्रतीक को प्रकृत विषय का समर्थक मानते हुए-'आसां च कण्डिकानां ब्रह्मयज्ञेऽध्ययनं कर्त्तव्यं

प्रतीकग्रहणत्वात्-'उवटः, तथा-'एताःप्रतीकचोदिताः पूर्वं पठितत्वादादि-मात्रेणोक्ताः ब्रह्मयज्ञे जपे च सर्वाअध्येयाः ।'

प्रतीक त्रयान्तर्गत परिगणित सातों ऋचाएं मूल मन्त्र प्रतिपाद्य परमेश्वर के महत् एवं यशः की समर्थक एवं स्पष्टार्थक हैं।

**निष्कर्ष** - (१) सार रूप में कहा जा सकता है कि-यजुर्वेद में पुनरुक्त मन्त्र देवता भेद आदि के कारण सार्थक पुनरुक्त होने से सदोष नहीं है। उक्त स्थलों के महर्षि दयानन्दकृत भाष्य से यह सुतरां स्पष्ट है कि वहां अवश्य ही सूक्ष्म भेद है।

(२) जहां देवता भेद भी नहीं है तथा अक्षरशः पुनरुक्ति है-(यथा २३/९-१० इसी अध्याय में ४५-४६) वहां प्रसङ्गानुसार (यथा ९-१० में पूर्व मन्त्र ८ में लोक वर्णन होने से आधिभौतिक तथा मन्त्र ४४ में शरीर का वर्णन होने से ४५-४६ में आध्यात्मिक) अर्थभेद होता है। अतः शब्द की पुनरुक्ति होते हुए भी अर्थ वैशिष्ट्य के कारण पुनरुक्ति दोष नहीं।

(३) यजुर्वेद के १३ मन्त्रों के साथ पठित प्रतीक का सदृश्य अन्य संहिताओं में उपलब्ध नहीं है।

(४) प्रतीक पुनरुक्तियां अर्थ विशेष/अत्यधिक अर्थ की ग्राहिका होने के कारण पुनरुक्त न होकर अनुवाद मात्र हैं।

(५) इन प्रतीक पुनरुक्तों को वीप्सा के उदाहरण रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है।

(६) सभी प्रतीक पूर्वपठित मन्त्रों की हैं। अग्रिम मन्त्र से कोई भी प्रतीक उद्धृत नहीं है, भले ही वह उक्त अर्थ की पोषक ही क्यों न हो। जैसे-'न तस्य' मन्त्र की तृतीय प्रतीक 'यस्मान्न जातः' के तुल्यार्थ ही नहीं, अपितु पूर्वार्ध में अद्भुत अर्थ साम्य तथा उत्तरार्ध में शब्दशः साम्य होते हुए भी एक मन्त्र बाद आनेवाली- ''यस्माज्जातं न पुरा किं चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सꣳ रराणस्त्रीणि ज्योती षि सचते स षोडशी''-

३२/५ ऋक् भी स्यात् अग्रपठित होने के कारण ही प्रतीक रूप में उद्धृत नहीं है।

(७) मन्त्र के छन्दविचार से स्पष्ट है कि-प्रतीक मूल मन्त्र का भाग नहीं हैं। यजुर्वेद के कर्मकाण्ड प्रधान स्वीकार किए जाने पर कर्मकाण्ड/मन्त्र की रूप समृद्धि के रूप में इन्हें मन्त्र के साथ उद्धृत किया गया होगा।

(८) सर्वानुक्रमणी में 'न तस्य प्रतिमा.' ३२/३ के साथ पठित प्रतीक के उल्लेख से ज्ञात होता है कि कात्यायन के समय तक यह मन्त्र के साथ स्थायी रूप से उद्धृत होने लगी थीं, किन्तु तब तक यह मन्त्रभाग के रूप में मान्य नहीं थी, अन्यथा द्विपदा गायत्री के स्थान पर छन्द पंक्ति होता। यद्यपि वर्तमान में इन सभी प्रतीकों को (छन्द की दृष्टि से बाहर रहते भी) मन्त्रांश की तरह प्रयुक्त/उद्धृत किया जाता है, जबकि ये मन्त्र की समर्थक अथवा मन्त्रगत भावों की पोषक हैं।

सम्पर्क : ३०/२ सेक्टर ४,
जागृति विहार-मेरठ (उ.प्र.)

**सन्दर्भ :**

१. **प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासहेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकम-विज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिमाविक्षेपो मतानुज्ञापर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि। न्यायदर्शन ५/२/१**
२. **तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः। २/१/५७**
३. **ठळर्सीशवर ठशर्शिीलीळेपी झरी २, उहरीिशी १, झरसश ४११-५२२**
४. **न्यायदर्शन ५/२/१४ ५. न्यायदर्शन २/१/६० ६. वही ५/२/१५**
७. **तद्यत् समान्यामृचि समानाभिव्याहारं भवति, तज्जामि भवतीत्येकम्। 'मधुमन्तं मधुश्चुतम्' इति यथा-निरुक्त १०/२/१६**
८. **यदेव समाने पादे समानभिव्याहारं भवति, तज्जामि भवतीत्यपरम्। हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्' इति यथा-निरुक्त १०/२/१६**

९. योगक्षेमं व आदायाऽहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम् ।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव ॥ ऋ. १०/१६६/५
१०. निरुक्त १०/४/४०
११. वेङ्कट का काल ११ वीं से १२ वीं शती के मध्य द्र.वै.वा.का इति. पं. भगवद्दत्त भा.२ पृ.४५
१२. ऋग्वेदानुक्रमणी के अन्तर्गत शब्दानुवृत्त्यनुक्रमणी । १-८
१३. संवत् ११०० के लगभग, महीधर-लगभग संवत् १६४५ वै.वा.का. इति. भा.२, पृ. ९६-१००
१४. यजु. । ९-१
१५. ऋग्वेदानुक्रमणी ४/८/१२
१६. स॑सीदस्व. ११-३७/३८-१७ पर अभीयं... सप्रथाः इस अंश के पश्चात् पूर्ववत् आवृत है । महर्षि ने दोनों स्थलों पर पृथक् अर्थ किया है ।
१७. यजु. ७/१२ १८. यजु. ७/१६ १९. यजु. २५/१०
२०. यजु. १२/१०२ २१. यजु. ८.३६ २२. यजु. ७.४०
२३. यजु. ८.२ २४. यजु. ८.३ २५. यजु. ७.४२
२६. यजु. ३३.८१ २७. यजु. ३३.८२ २८. यजु. ३३.८३
२९. यजु. ११.४२ ३०. यजु. १७.१७ ३१. यजु. १७.२६
३२. यजु. १७.२७ ३३. यजु. ११.८३ ३४. यजु. ७.१९
३५. यजु. ३३.३४ ३६. यजु. ३३.१० ३७. यजु. ७.३३
३८. इन्द्रस्तुत्युक्थे द्वितीयेऽहन्यैन्द्र्यः पुरोरुचो द्वादशः..... आयुते सुनीति .... गायत्रम् - सर्वानुक्रमसूत्रम् - ३-१८ ।
३९. सर्वानुक्रमसूत्रम् ३-१५
४०. क- न तस्य द्विपदा गायत्री हिरण्यगर्भश्चतस्रो मा मा हिं॰सीद् यस्मान्न द्वे एताः प्रतीक चोदिता ब्रह्मयज्ञे ध्येयाः-सर्वानुक्रमसूत्रम् ४/१५ तथा 'यस्मान्न द्वे'...'हिरण्यगर्भश्चतस्रः'-अनुवाक सूत्राध्याये
ख - हिरण्यगर्भो हिरण्यगर्भः कार्यी त्रिष्टुमम्-स.सू. २/१२;
यः प्राणतस्त्रिष्टुप्कायी हिरण्यगर्भस्य-स.सू. ३/२
यस्येमे काय्यौ त्रिष्टुभौ हिरण्यगर्भः प्राजापत्य-स.सू. ३/५
ग-मा मा हिरण्यगर्भः कार्यी त्रिष्टुमम्-स.सू. २/११
घ-यस्मान्नैन्द्री त्रिष्टुप् परब्रह्मरूपेण षोडशिनःस्तुतिरिन्द्रश्चैन्द्रावारुणी षोडशी देवत्या वा यजुरन्ता-स.सू. १/३२

# "वेदाः यज्ञार्थं प्रवृताः"

- डा. नागेन्द्र कुमार शास्त्री
**प्राचार्य-** निःशुल्क गुरुकुल महाविद्यालय अयोध्या

यजुः शब्द यज् धातु से बना है, जिसका अर्थ है देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान। यजुर्वेद कर्मकाण्ड प्रधान है। देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान में ही सारी क्रियायें इसमें निहित हैं। यजुर्वेद में श्रेष्ठ कार्यों की सिद्धि के साधन के रूप में मनुष्यों को ईश्वर की प्रार्थना एवं यज्ञ का उपदेश किया गया है। सामान्यतः यज्ञ से तात्पर्य हवन करना है। व्यापक अर्थ में प्रत्येक कर्म जो परोपकारार्थ किया जाय वह यज्ञ है। जलाशय, धर्मशाला, औषधालय, शिक्षालयादि का निर्माण उत्तम यज्ञ नहीं तो और क्या है? यज्ञ में तो यही भाव निहित है। याज्ञिक घी, सामग्री प्रज्वलित अग्नि में, सर्वजन हिताय की पुनीत भावना से आहुति देता है जो पर्यावरण शुद्धि से प्राणियों को स्वस्थ जीवन की अमूल्य निधि प्रदान करता है। जिससे कल्याणमय जगत् की परिकल्पना साकार होती है। यज्ञ की सामग्री स्वयं को जलाकर चतुर्दिक प्रकाश बिखरेती हुई सुगन्धि के साथ पर्यावरण शुद्ध करती है। ठीक उसी प्रकार जो मनुष्य दूसरों के हितार्थ होम करते हैं, उनके जीवन से निकले प्रकाश से असंख्य लोगों का जीवन उन्नत होता है। यजुर्वेद में इसी प्रकार के यज्ञ का प्रकाश किया गया है।

**"वेदाः यज्ञार्थं प्रवृत्ताः"** वेद केवल यज्ञ में प्रवृत्त करते हैं अर्थात् इनका उपयोग यज्ञ से भिन्न अन्य कार्य में नहीं है। यह धारणा अल्पज्ञों की रही है, जो न तो यज्ञ के शाब्दिक अर्थ की मूल भावना को जान सके और न ही इसके व्यापक अर्थ की परिकल्पना कर सके।

यजुर्वेद के १८वें अध्याय के ५० वे मन्त्र में यज्ञ से पर्यावरण को शुद्ध कर दीर्घायु जीवन की प्राप्ति का उपदेश प्राप्त होता है।

**"स्वर्ण धर्मः स्वाहा। स्वर्णार्कः स्वाहा। स्वर्ण शुक्रः स्वाहा।
स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा। स्वर्ण सूर्यः स्वाहा।"** १८/५०

यज्ञ करने वाले मनुष्य सुगन्धि युक्त आदि पदार्थों के होम से समस्त वायु

आदि पदार्थों को शुद्ध कर सकते हैं, जिससे रोगक्षय होकर सब की बहुत आयुर्दा हो। इसी अध्याय के ५१ वें मन्त्र में भी विस्तृत अर्थ का प्रतिपादन किया गया है।

**"अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्य" सुपर्णं वयसा बृहन्तम्।**
**तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वो रुहाणाऽ अधि नाकमुत्तमम्॥**

जो मनुष्य अच्छे बनाये हुए सुगन्धि आदि से युक्त पदार्थों को आग में छोड़कर पवन आदि की शुद्धि से सब प्राणियों को सुख देते हैं, उन्हें अत्यन्त सुख प्राप्त होते हैं।

यजुर्वेद के अध्याय ३१ में यज्ञ करने वाले को भौतिक पर्यावरण की शुद्धि से प्राणियों के सर्वाङ्गीण विकास का श्रेय तो प्राप्त होता ही है, साथ ही आध्यात्मिक लाभ भी होता है। उसका जीवन अनेक सद्गुणों से युक्त होता है।

**भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।**
**तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥** ३/५

जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से सभी ग्रहों-उपग्रहों को प्रकाशित करता है वैसे ही यज्ञ करने वाला दूसरों के जीवन को उन्नत करता है। यजमान **"वसुधैव कटुम्बकम्"** की भावना से ओत-प्रोत होकर ही श्रेष्ठ यज्ञ यम्पादित करता है। यदि संसार के किसी भी मानव को कोई भी कष्ट सम्भव ही नहीं होगा। परोपकार की भावना से किया गया कार्य यज्ञ की कल्याणमयी भावना का ही पर्याय है। यज्ञ को वेद में **'अध्वर'** कहा गया है।

**"उपप्रयन्तोऽअध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये।**
**आरेऽ अस्मे च शृण्वते॥"** ३/११

जिसका भाव है कि यज्ञ में कोई हिंसा या कुटिलता नहीं होती यजमान न तो किसी की हिंसा करे न कुटिलता का व्यवहार करे अर्थात् हमारे सम्पूर्ण कार्य कल्याणपरक हों। हमारा सम्पूर्ण जीवन ही यज्ञमय हो। हमें वाणी की सौम्यता भी बनाये रखना चाहिए, अपशब्द का प्रयोग वर्जित होना चाहिए। वेद मन्त्रों का उच्चारण श्रेयस्कर है। **(मन्त्रं वोचेमाग्नये)** हमारा समग्र जीवन दूसरों के हितार्थ हो तभी हम उस परम सत्ता के सामीप्य प्राप्त कर सकते हैं। इसलिंए यज्ञ करते हुए हमें अपने जीवन को यज्ञमय बनाना चाहिए।

# वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः

**-स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती**

वेद संसार का आदि ग्रन्थ है। संसार की समस्त पुस्तकें वेदों से अनुप्राणित हैं। सृष्टि के आदि से लेकर महाभारत काल पर्यन्त समस्त संसार का एकमात्र मार्गदर्शक वेद ही रहा है। समस्त भूमण्डल में एकमात्र वेदधर्म ही था। लोग वेदों को समस्त विद्याओं का भण्डार मानते थे।

कालक्रम से मानवों की शक्ति का ह्रास होने से वेदों का अर्थ वेदों से जानने में कठिनाई हुई। वेदज्ञ ऋषियों ने वेदार्थ को समझने के लिए वेदों में विद्यमान उपायों का संकलन तथा व्याख्यान करके वेदाङ्गों के नाम से प्रसिद्ध किया। वे शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष एवं कल्प कहे जाते हैं। इनके आधार पर वेदार्थ को जानने की परम्परा चल पड़ी। वेदार्थ के जानने के लिए एक-एक वेदाङ्ग वेद की व्याख्या के रूप में अपना-अपना सहयोग देता है। इसी से वेदार्थ जाना जाता है। इन वेदार्थ बोधक छः वेदाङ्गों में अन्यतम अङ्ग ज्योतिष है।

महाभारत युद्ध के पश्चात् वेदों का पठन-पाठन मन्द हुआ। अतः छः वेदाङ्गों का पठन-पाठन न्यून हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि वेदार्थ बोध में ज्योतिष के अध्ययन की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उपेक्षा हुई। क्रमशः आगे चलकर ज्योतिष के द्वारा वेदार्थ ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया अवरुद्ध प्रायः हो गई। इसलिए ज्योतिष का पठन-पाठन भी शनैः शनैः रुक गया। पठऩ-पाठन का रुकना था कि वेदार्थ ज्ञान में ज्योतिष वेदाङ्ग की उपयोगिता तिरोहित हुई। वेदार्थ जिज्ञासु वा वेदाध्येता विद्वान् वेदाङ्ग ज्योतिर्विधा का स्वरूप और वेदार्थ ज्ञान में उसकी सार्थकता के ज्ञान से रहित हुए। वेदार्थ ज्ञान में ज्योतिष की जब उपयोगिता का ज्ञान ही नहीं रहा तो वेदाङ्ग ज्योतिष का स्वरूप क्रम विकृत हुआ। कहने के लिए वेदज्ञ विद्वान् ज्योतिष को वेदाङ्ग कहते रहे किन्तु वे वेदाङ्ग ज्योतिर्विद्या और उससे वेदार्थ में

होने वाले सहयोग से अनभिज्ञ हुए। वेदज्ञ विद्वान् यह नहीं कह सकते कि ज्योतिष वेदाङ्ग नहीं है। इसलिए येन केन प्रकारेण ज्योतिष को वेदाङ्ग लिखते और कहते तो हैं किन्तु उसका स्वरूप और वह किस रूप में वेदाङ्ग है, इसको नहीं जानते। यही कारण है कि वेदज्ञ, वेदार्थ जिज्ञासु ज्योतिष को यज्ञकाल बोधक कहते मानते हैं। इसको सिद्ध करने के लिए उन विद्वानों को वेदों को यज्ञ में पढ़ने के लिए प्रवृत्त मन्त्र समूह मात्र कहना एवं लिखना पड़ा। किन्तु यह मान्यता निराधार, कल्पनाप्रसूत और केवल मिथ्या है। इस काल्पनिक मन्तव्य से न केवल ज्योतिष का वेदाङ्गत्व ही निराधार सिद्ध हुआ किन्तु सर्व विद्यामय वेद भी अर्थहीन माना जाने लगा। वेद के प्रति यह महान् अनर्थ हुआ। यही कारण है कि ऋषि दयानन्द सरस्वती से पूर्व के लगभग सारे वेदभाष्यकार वेदों को सर्व विद्यामय कहते, मानते हुए भी उनको यज्ञ में पढ़ने मात्र के लिए आविर्भूत किं वा याज्ञिक क्रियाओं के प्रतिपादक मानते हैं और याज्ञिक क्रियाओं में पढ़ने मात्र के लिए इन मन्त्रों का विनियोग करते हैं।

वर्तमान में वेदाङ्ग ज्योतिष नामक दो लघु पुस्तिकाएं हैं। उनको आर्च एवं याजुष ज्योतिष कहा जाता है। वेदाङ्ग ज्योतिष नाम से व्यवहृत होने पर भी इनके द्वारा वेदार्थ ज्ञान में कोई सहयोग नहीं मिलता। न ही ये वेदार्थ बोध के लिए बनाये गये हैं। याजुष वेदाङ्ग ज्योतिष में स्पष्ट लिखा हैं कि,

**ज्योतिषामयनं पुण्यं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।**
**सम्मतं ब्राह्मणेन्द्राणां यज्ञकालार्थ सिद्धये॥** याजुष २

ब्राह्मणेन्द्रों के सम्मत पुण्य ज्योतियों के गमन को यज्ञकाल की सिद्धि के लिए कहूँगा।

इसी प्रकार कुछ पाठभेद के साथ आर्च ज्योतिष में श्लोक है। उसमें भी ज्योतिष शास्त्र को यज्ञ के लिए अपेक्षित काल के ज्ञान के लिए प्रवृत्त कहा गया है। इसलिए इससे वेदार्थ जानने की इच्छा करना व्यर्थ है। वेदार्थ ज्ञान में उपयोगी न होने से इसको वेदाङ्ग नहीं कहा जा सकता।

आर्च ज्योतिष में

**वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः ।**
**तस्मादिदं काल विधानशास्त्रं यो ज्यौतिषं वेद स वेद यज्ञान् ॥**

आर्च ज्योतिष ३६

यही श्लोक याजुष ज्योतिष में तृतीय श्लोक के रूप में लिखा है। उसमें अन्तिम 'यज्ञान्' शब्द के स्थान पर एक वचन 'यज्ञम्' है।

**अर्थ :** वेद यज्ञ के लिए प्रवृत्त हुए। यज्ञ काल से (सम्बद्ध होकर) विहित हैं। यह (ज्योतिष) काल का विधान करने वाला शास्त्र है। इसलिए जो ज्योतिष को जानता है वह यज्ञों को जानता है।

इस श्लोक में अतीव स्पष्ट रूप से ज्योतिष को कालविधायक शास्त्र कहा गया है। अब इसमें सन्देह नहीं रहना चाहिए कि वेदाङ्ग ज्योतिषकार की दृष्टि में ज्योतिष शास्त्र वेदाङ्ग नहीं है।

इस श्लोक कर्त्ता को यह भी ज्ञान नहीं है कि **'ज्योतिष्'** शब्द कालवाचक नहीं है। जब ज्योतिष शब्द 'द्युत दीप्तौ' से बना है तो काल को कैसे कहेगा ? ज्योतिष का अर्थ काल कैसे होगा ?

इस तथाकथित वेदाङ्ग ज्योतिष में पंचसंवत्सरात्मक युग और उसके अङ्गरूपी दिन, मास, ऋतु, अयनादि जानने के उपाय कहे गये हैं। इनके ज्ञान से वेदार्थ बोध में कोई सहयोग नहीं मिलता है।

ज्योतिष के नाम से आज उपलब्ध पुस्तकों में कदाचित् यह याजुष वा आर्च ज्योतिष ही पुराने ग्रन्थ होंगे। इनको बने लगभग तीन हजार पाँच सौ (३५००) वर्ष हुए होंगे। इनसे पूर्व का कोई ज्योतिष का ग्रन्थ बने, जो आज हैं उनमें ज्योतिष को यज्ञ के लिए आवश्यक कालज्ञान बतलाने वाला शास्त्र कहा गया है। साथ में वेदों को यज्ञों के लिए प्रादुर्भूत ग्रन्थ कहा गया है।

ऋषि दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायी वेदों को सर्व विद्यामय मानते हैं। तथापि उनके अनुयायी ज्योतिष को कालज्ञान बोधक शास्त्र ही

मानते एवं लिखते हैं। ये विद्वान् यह नहीं जान पाये कि काल ज्ञान कराने वाला शास्त्र शिक्षा व्याकरण, निरुक्त के समान वेदमन्त्र का अर्थ ज्ञान नहीं करा सकता, अतः वेदाङ्ग नहीं हो सकता। यदि कालज्ञान करानेवाला शास्त्र वेदाङ्ग माना जाता है तो वेदों को यज्ञार्थ प्रवृत्त मानना पड़ेगा। वेदों को यज्ञार्थ प्रवृत्त मानना वेदों के अन्तः साक्ष्य से विरुद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष विरुद्ध तथा मन्वादि शास्त्रों के विरुद्ध होगा। ऋषि दयानन्दानुयायी किसी विद्वान् ने न इस समस्या को समझा और न इसका समाधान ही किया।

प्रश्न उपस्थित होता है कि सर्वविद्यामय ईश्वरीय ज्ञानराशिभूत वेदों को यज्ञार्थ प्रादुर्भूत किस आधार पर मान लिया? सहस्त्रों वर्षों से लाखों वेदज्ञों को भ्रान्ति में रखने वाला यह मिथ्या ज्ञान कहाँ से चल पड़ा ? ईश्वरीय विमल ज्ञान वेद को सर्वोच्च शिखर से च्युत करके यज्ञों के लिए प्रवृत्त मानने का वेदार्थ विध्वंसक यह अज्ञान कहाँ से प्रादुर्भूत हुआ? ईश्वरीय सृष्टि की व्याख्या रूप वेदोक्त यह पावन ज्योतिर्विज्ञान यज्ञकाल ज्ञापक वा मुहुर्त्त ज्ञापक तुच्छ प्रयोजन वाला किस आधार पर बना ? इस अनर्थ का कारण क्या है ? आइये इसका प्रामाणिक समाधान ढूंढते हैं।

संसार में ईश्वरीय ज्ञान वेद के आविर्भाव के पश्चात् सर्वप्रथम अस्तित्त्व में आने वाला आर्ष (पौरुषेय मानवीय) ग्रन्थ मानवधर्म शास्त्र है ऐसा ऐतिहासिक विद्वान् कहते हैं। मानवधर्मशास्त्र वेदों का सार है यह मान्य सिद्धान्त है। मानवधर्मशास्त्र में निम्न श्लोक मिलता है -

**अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।**
**दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थमृग्यजुस्सामलक्षणम्॥** मनुस्मृति १/२३

उस परमात्मा ने यज्ञसिद्ध्यर्थं=यज्ञ की सिद्धि के लिए; अग्निवायुरविभ्यः तु=अग्नि, वायु, रवि के माध्यम से; ऋग्यजुः साम लक्षणं त्रयं सनातनं ब्रह्म=ऋग्, यजु, साम लक्षणवाले तीन प्रकार के नित्य वेद को; दुदोह=प्रकट किया।

इस श्लोक में विद्यमान यज्ञ सिद्धि शब्द की व्याख्या करते हुए कुल्लूक भट्ट ने लिखा है कि ''त्रयीसम्पाद्यात्वाद्यज्ञानां'' यज्ञ तीन वेदों द्वारा सम्पादनीय होने से प्रभु ने उनको प्रकट किया। अब कुल्लूक के अर्थ पर विचार करते हैं-

इस सन्दर्भ में प्रथम इससे पूर्व का मनु महाराज का श्लोक द्रष्टव्य है-

**कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।**

**साध्यानां च गणं सूक्ष्मम् यज्ञं चैव सनातनम्॥** १/२२

सःप्रभुः=उस प्रभु ने; कर्मात्मनां देवानाम्=कर्मस्वभाव वाले देवों को; प्राणिनाम्=प्राणियों के; च साध्यानाम्=और साध्यों के ; गणम्= समूह को; च=तथा; सनातनं सूक्ष्मं यज्ञम् एव=सनातन सूक्ष्म यज्ञ को; असृजत्=रचा।

यहाँ कुल्लूक भट्ट ने सनातन यज्ञ का अर्थ ज्योतिष्टोमादि यज्ञ किया है। यह प्रत्यक्ष है कि ज्योतिष्टोमादि याग नित्य नहीं हैं अनित्य ही हैं। अतः कुल्लूक का यह लेख मिथ्याकल्पना मात्र एवं प्रत्यक्ष विरुद्ध है। वास्तव में यहाँ सूक्ष्म यज्ञ का अर्थ सूक्ष्म रूप में चलने वाले जागतिक कर्म अभिप्रेत हैं न कि लौकिक द्रव्यमय यज्ञ। जैसे कि -

**यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।**

**वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥** ऋग्. १०/९०/६

**अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त .... वायुः**

**पशुरासीत्तेनायजन्त .... सूर्यःपशुरासीत्तेनायजन्त ...।**

यजु. २३/१७

**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः ....॥** ऋग् १०/९०/१६

मनु महाराज के १/२३ श्लोक में पठित यज्ञ शब्द द्रव्यमय यज्ञ नहीं है। इस यज्ञ शब्द के अर्थ को समझने में वेदाङ्ग ज्योतिषकार आदि की भूल के कारण वेदार्थ प्रक्रिया दूषित हो गई। अतः वेदार्थ दूषित हो गया। विद्वानों ने वेदों को यज्ञ में पाठमात्र पढ़ने के लिए प्रादुर्भूत मान लिया। वेदों का सर्वविद्यामयत्व समाप्त हुआ। वेद केवल खींचातानी युक्त यज्ञ कर्म की व्याख्या

करनेवाले काल्पनिक, विज्ञानविहीन ग्रन्थ माने गए। यज्ञपरक किए गये असम्बद्ध वेद व्याख्यानों को देखकर पाश्चात्त्यों को यह कहने का अवसर मिल गया कि वेद गडरियों के गीत हैं। यह वेदों के साथ अन्याय हुआ।

'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम्' में विद्यमान यज्ञ शब्द का कुल्लूक आदि विद्वानों द्वारा किया हुआ ज्योतिष्टोमादि अर्थ वेदविरुद्ध, वेदार्थ विघातक मात्र है। यह अर्थ वेद एवं मनुस्मृति के अभिप्राय के विरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य है।

इस श्लोक में विद्यमान यज्ञ शब्द के कई अर्थ हैं। उनमें से एक है-

१. जगत्, संसार, सृष्टि। इसमें प्रमाण-

(क) **यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।**
**इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते तते ॥**

ऋग्. १०/१३०/१

जो विश्वसर्गरूप चारों ओर से विस्तार के कारणों के द्वारा विस्तृत किया जाता है, १०१ देव कर्मों=दैवी पदार्थों की गतिविधियों से प्रवर्द्धित होता है, उसे ये पालक शक्तियां जो इसमें व्याप्त हैं वस्त्र की भाँति बुनती हैं। ऊपर बुनों और नीचे को बुनों ऐसी प्रेरणा करती हैं। इस जगत् रूपी यज्ञपट के विस्तृत रूप में तन जाने पर इस प्रकार इसमें स्थित और कार्यरत होती हैं।

इसी सूक्त का छठा मन्त्र है कि -

(ख) **चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।**
**पश्यन् मन्ये मनसा चक्षसा तान् य इमं यज्ञम जनयन्त पूर्वे ॥६॥**

सृष्टि सम्बन्धी इस पुराने यज्ञ के वितत होने पर उसके द्वारा ऋषि, मनुष्य और उनमें हमारे माता-पिता आदि उत्पन्न किये जाते हैं। जो पूर्ववर्ती साध्य देव आदि इस सृष्टि यज्ञ को सम्पन्न करते हैं उनको मैं (सृष्टि विद्या का ज्ञाता) (अन्वेषण प्रधान मनसे) जानते हुए विचरता हूँ।

इस सूक्तगत मन्त्रो में विद्यमान यज्ञ संसार को बतला रहा है। यहाँ यज्ञ शब्द से ईश्वरीय सृष्टिरूप यज्ञ ही है। ज्योतिष्टोमादि द्रव्यमय यज्ञ नहीं।

इस प्रकार मनुस्मृति १/२३ में यज्ञसिद्धि का अर्थ "संसार में मानवों को धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य, सृष्टि के स्वरूप का ज्ञान, ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए" है।

यज्ञ शब्द का एक अर्थ परमेश्वर है। यह अर्थ भी असङ्गत नहीं

**तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।**

**छन्दाँसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥** ऋग्. १०/९०/९

उस यज्ञ=पूर्ण, सबके पूजनीय परमेश्वर से ऋग्., यजुः, साम लक्षणवाले चारों वेद आविर्भूत हुए।

इसके अनुसार मनुस्मृति के श्लोकस्य यज्ञसिद्धि का अर्थ होगा परमेश्वर की प्राप्ति के लिए परमेश्वर ने ही ऋगादि चारों वेदों का प्रकाशन किया।

**यस्तन्न वेदकिमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥**

ऋग्. १/१६४/६९

जो मानव उस अविनाशी सर्वव्यापक परमेश्वर को नहीं जानता वह ऋग्वेदादि को पढ़कर भी क्या कुछ सुख प्राप्त करेगा ? जो उसको जानते हैं वे उसमें स्थिर होकर आनन्द भोगते हैं।

न ऋते त्वदमृता मादयन्ते ॥ ऋग्. ७/११/१

हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर तेरे बिना (तुझे जाने विना) मुक्तात्मा आनन्दित नहीं होते।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि सनातन वेदो का ज्ञान परमेश्वर ने ब्रह्म प्राप्ति (अपनी प्राप्ति) के लिए अग्न्यादि ऋषियों द्वारा दोहन किया=प्रकट किया।

मनुस्मृतिस्थ यज्ञ शब्द के अर्थ को जानने में वेदाङ्ग ज्योतिषकार भूलकर गया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि इसको प्रमाण मानकर परवर्ती ज्योतिषाचार्य श्रीधर, वटेश्वर, भास्कर आदि सारे ज्योतिष को यज्ञकाल को बतलाने वाला शास्त्र मान लिया। वेदभाष्यकार भी इसी का अनुसरण करते रहे। वेदों का अर्थ द्रव्यमय यज्ञगत क्रियाकलाप परक क़िया। यह वेदों के

साथ बहुत बड़ा अन्याय हुआ। यह ध्यातव्य है कि आधुनिक सूर्य सिद्धान्तकार ने इस अन्ध परम्परा को स्वीकार नहीं किया। ज्योतिष को ज्योतियों का ज्ञान कराने वाला ही कहा। न वेदों को यज्ञार्थ प्रवृत्त माना, ना ही ज्योतिष को यज्ञकाल बतलाने वाला माना।

मनुस्मृति के श्लोक गत यज्ञ शब्द का अर्थ द्रव्यमय यज्ञ मानने का एक कारण यह हो सकता है कि महाभारत काल के पश्चात् द्रव्यमय यज्ञों का बाहुल्य था। तब मानव जीवन का लक्ष्य द्रव्यमय यज्ञों द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करना माना जा रहा था। मानवों का धर्म कर्म द्रव्यमय यज्ञों का अनुष्ठान मात्र बन गया था। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ गई थी कि वेद मन्त्रों को अर्थ हीन भी माना जाने लगा था। यह यास्ककृत निरुक्त तथा जैमिनि की मीमांसा से ज्ञात होता है। ज्योतिष का अर्थ जो कि ''सृष्टि की उत्पत्ति, उसकी स्थिति (नीहारिका=आकाश गंगाएं, सौर परिवार, ग्रहोपग्रह आदि का सन्निवेश विशेष) उसकी गति उसका प्रलय था। उस ज्योतिष (भूगोल-खगोल भूगर्भ विद्या) को यज्ञ काल के ज्ञान मात्र के लिए मान लिया। यह निराधार है, कल्पनामात्र है। क्योंकि मनु महाराज का शब्द यज्ञसिद्धि है। यज्ञ तथा यज्ञकाल एक नहीं। वेदों को यज्ञ के लिए मानना वेद विरुद्ध है। मनु महाराज के अभिप्राय के विरुद्ध है।

**याजुष वा आर्च ज्योतिष की समीक्षा :-** वेदाङ्ग ज्योतिष नामक आर्च ज्योतिष ग्रन्थ में लिखा है कि -

प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्।
काल ज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः ॥२॥
ज्योतिषामयनं कृत्स्नं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
विप्राणां सम्मतं लोके यज्ञकालार्थ सिद्धये ॥३॥
वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं काल विधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान् ॥३६॥

शिर से काल का प्रणाम करके सरस्वती का अभिवादन कर महात्मा लगध के काल ज्ञान को कहूँगा। लोक में विप्रों के सम्मत यज्ञकाल की सिद्धि के लिए ज्योतियों के सम्पूर्ण असल करे क्रमशः कहूँगा। वेद यज्ञ के लिए प्रवृत्त हैं और यज्ञ कालक्रम से विहित हैं इसलिये काल विधायक इस शास्त्र को कहूँगा। क्योंकि जो ज्योतिष को जानता है वह यज्ञों को जानता है॥

**समीक्षा :-** इन श्लोकों का रचयिता वेद एवं वेदार्थ को जाननेवाला विद्वान् नहीं। ऋषि मुनि नहीं। केवल उत्तरायण दक्षिणायन, ऋतु, मास, पर्व, तिथि, दिन-रात की प्रवृत्ति, नक्षत्र आदि की गणना जाननेवाला विद्वान् हो सकता है। काल समय का नाम है उसको नमन करना, सरस्वती (कौन है पता नहीं उस) को नमन करना विद्वानों का काम नहीं। विद्वान् ऐसा नहीं लिख सकते।

लेखक ने प्रतिज्ञा की है कि ज्योतियों की सम्पूर्ण गति को कहूँगा। किन्तु सम्पूर्ण ज्योतियों की गति का कथन तो सारे ग्रन्थ में कहीं भी नहीं कहा। महर्षि कणाद के अनुसार काल एक द्रव्य है। काल ज्ञान को बतलाने वाली इस पुस्तक में न काल का लक्षण है और न उस काल की व्याख्या ही है।

''वेद यज्ञ के लिए प्रवृत्त हुए'' वेद द्रव्यमय यज्ञ के लिए प्रवृत्त हैं, प्रादुर्भूत हैं ऐसा न वेद में लिखा न किसी ऋषि ने लिखा। वेद द्रव्यमय यज्ञ के लिए प्रवृत्त हुए यह वेदानुकूल न होने से एवं वेद विरुद्ध होने से अमान्य है, अप्रामाणिक है, निराधार है। ज्योतिष को वेदज्ञ विद्वान् काल विधायक शास्त्र कहते वा मानते हैं। वास्तव में विद्वानों ने इस पर विचार स्यात् न किया होगा। क्योंकि यह 'द्युत्' धातु से निष्पन्न शब्द है। ज्योतिष का अर्थ ज्योतियों के विषय में कहने वाला शास्त्र होता है। यह अर्थ अभिधा वृत्ति से होता है। अभिधा से उपपन्न होने पर लक्षणा से अर्थ करना संभव नहीं है। यदि ऐसा करते हैं तो ज्योतिष शास्त्र को अपने स्थान से च्युत करना ही है। यह अर्थ मिथ्या एवं वदतो व्याघात दोष से दूषित है।

'द्युत्' धातु से औणादिक इसिन् प्रत्यय और धात्वादि के 'द' को 'ज' होकर ज्योतिष शब्द बना है। **ज्योतिषम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शास्त्रम् वा ज्योतिषम्।** ज्योतियों को लक्षित करके लिखा ग्रन्थ वा शास्त्र ज्योतिष कहलाता है। ज्योतियां दो प्रकार की हैं। एक स्वतः ज्योतियां जैसे सूर्यादि। दो परतः ज्योतियां जैसे पृथिवी, चन्द्र आदि। इनको आधार बनाकर लिखा हुआ शास्त्र ज्योतिष कहलाता है।

इसमें प्रतिज्ञा है ज्योतियों के अयन की और प्रतिपादित है काल विषय। यह वदतो व्याघात है। इसमें प्रतिपादित कालज्ञान यज्ञकाल की सिद्धि के लिए है तो यह काल विधायक (शास्त्र) यज्ञाङ्ग हो सकता है। वेदाङ्ग कथमपि नहीं हो सकता। मनुस्मृति १/२३ में पठित यज्ञ का अर्थ द्रव्यमय यज्ञ परक करना मनु महाराज के मन्तव्य के विरुद्ध है। देखिये जैसा कि ऊपर लिखा है कि वेदयज्ञों के लिए प्रवृत्त हैं ऐसा न वेद में है, न किसी आर्ष ग्रन्थ में। देखिये मनु महाराज ने लिखा है कि-

**चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः चत्वाराश्चाश्रमाः पृथक्।**
**भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति॥** १२/९७

ब्राह्मणादि चार वर्णों की व्यवस्था, पृथिवी, आकाश, द्युलोक (तीनों लोकों में रहने वाले पदार्थों का ज्ञान वा उनकी व्यवस्था) ब्रह्मचर्यादि चार आश्रम, भूत, भविष्य, वर्तमान् तीनों कालों की विद्या यह सब वेद से प्रसिद्ध होते हैं।

**सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।**
**सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥** १२/१००

सेनापति पद, राज्य व्यवस्था, दण्डविधान, सम्पूर्ण लोकों का नेतृत्व वेदशास्त्रज्ञ ही कर सकता है। अर्थात् वेदों में ये सारी विद्याएं हैं।

आयुर्वेद (चरक सुश्रुत), कणादकृत पदार्थ विद्या, भरतकृत नाट्यवेद आदि वेदों से प्रकट हुए हैं। यह उन ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है।

अतः वेदों को द्रव्यमय यज्ञों के लिए प्रवृत्त मानना मिथ्या है।

ज्योतिष का प्रतिपाद्य विषय कालज्ञान नहीं हो सकता यह ऊपर लिख दिया है। इसकी पुष्टि के लिए कुछ प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ।

वर्तमान् में पाणिनीय शिक्षा नाम से एक शिक्षा मिलती है। उसमें ज्योतिष के स्वरूप का कथन हे वह नीचे दिया जाता है।

**छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्येत।**

**ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥**

छन्दः शास्त्र वेद के पादस्थानीय, कल्प हस्तस्थानीय, ज्योतियों का अयन नेत्रस्थानीय, निरुक्त श्रोत्र स्थानीय हैं। इसके अनुसार ज्योतिष में यज्ञकाल का गन्ध भी नहीं है। अतः यह यज्ञकाल की सिद्धि अर्थ प्रक्षिप्त है। इसी प्रकार श्रीधर, भास्कर, वटेश्वर आदि आचार्यों न ज्योतिष के प्रयोजन में यज्ञकाल की सिद्धि को प्रक्षिप्त किया।

सूर्य सिद्धान्त के अनुसार मयासुर ने सूर्य से प्रार्थना की थी। उसका विवरण नीचे दिया जाता है।

**वेदाङ्गमग्रमखिलं ज्योतिषां गतिकारणम्।**

**आराधयन् विवस्वन्तं तपस्तेपे सुदुसतरम्॥** म. ३

सम्पूर्ण ज्योतियों के ज्ञान के प्रतिपादक एवं वेदाङ्गों में श्रेष्ठ ज्योतिश्शास्त्र की आराधना करता हुआ मय ते तप किया।

**तोषितस्तपसा तेन प्रीतस्तस्मै वरार्थिने।**

**ग्रहाणां चरितं प्रादात् मयाय सविता स्वयम्॥४॥**

उस तप से प्रसन्न वरार्थी मय के लिए स्वयं सविता ने ग्रहों के ज्ञान को दिया।

**ग्रहनक्षत्रचरितं ज्ञात्वा गोलं च तत्त्वतः।**

**ग्रहलोकमवाप्नोति पर्यायेणात्मवान् नरः॥** १३/२५

ग्रह नक्षत्रों की गति के तत्त्व को जानकर आत्मज्ञानवाला नर क्रमशः ग्रहों

के लोक को प्राप्त करता है।

शास्त्रान्त में फलश्रुति में ज्योतिषशास्त्र के फल को बतलाते हुए लिखा है-

**दिव्यं चार्क्षं ग्रहाणां च दिर्शितं ज्ञनमुत्तमम् ।**
**विज्ञायार्कादि लोकेषु स्थानं प्राप्नोति शाश्वतम् ॥** १४/२३

ग्रह एवं नक्षत्र सम्बन्धी उत्तम ज्ञान बतलाया। इसको प्राप्त कर सूर्यादि लोकों में शाश्वत स्थान प्राप्त करता है।

**स तेभ्यः प्रददौ प्रीतो ग्रहाणां चरितं महत् ।**
**अत्यद्भुततमं लोके रहस्यं ब्रह्म सम्मितम् ॥** १४/२७

प्रसन्न हुए मय ने अन्य लोगों को ग्रहों का महान् ज्ञान जो कि लोक में अत्यन्त अद्भुततम वेद तुल्य रहस्यपूर्ण ज्ञान को दिया। इन उपक्रम और उपसंहार श्लोकों के अनुसार सिद्ध होता है कि ज्योतिष में ग्रहों का ज्ञान होता है। यज्ञकाल का नाम तक नहीं। अतः यज्ञकाल का विषय ज्योतिष में प्रक्षिप्त है। मूल में नहीं है। यही विषय भास्कराचार्य ने अपने सिद्धान्तशिरोमणि में सिद्धान्त (ज्योतिष) का लक्षण बतलाते हुए लिखा है-

**त्रुट्यादि प्रलयानतकालकलना मान प्रभेदः क्रमात्**
**चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तराः ।**
**भूधिष्ण्य ग्रह संस्थितेश्च कथनं मन्त्रादि यत्रोच्यते**
**सिद्धान्तः स उदोहृतोऽत्र गणित स्कन्ध प्रबन्धे बुधैः ॥** १/१/६

आचार्य भास्कर सिद्धान्त को ही ज्योतिष मानते हैं संहिता होरा को नहीं। सिद्धान्त का लक्षण करते हुए उनका लिखा श्लोक ऊपर है। उसका अर्थ नीचे दिया जाता है-

त्रुटि से लेकर प्रलय पर्यन्त काल संग्रह, विभिन्न प्रकार के कालमान, द्युलोक (आकाश) में विद्यमान ग्रह आदि का भ्रमण, अङ्क एवं बीजगणित, उत्तर सहित प्रश्न, भूमि नक्षत्र ग्रह का संस्थान ज्योतिष के लिए आवश्यक मन्त्रों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को विद्वान् लोग सिद्धान्त कहते हैं।

इस ज्योतिष के लक्षण में यज्ञ के लिए काल प्रतिपादन का नाम तक नहीं।

याजुष ज्योतिष में फलश्रुति के रूप में निम्न श्लोक है -

**सोमसूर्यस्तृचरितं विद्वान् वेद विदश्नुते।**

**सोमसूर्यस्तृचरितं लोकं लोके च सन्ततिम्॥४३॥**

जो विद्वान् चन्द्र सूर्य नक्षत्रों के ज्ञान को, गति को जानता है वह सूर्य चन्द्र नक्षत्रों के लोक को प्राप्त करता है और लोक में सन्तान को प्राप्त करता है। उपसंहार वा फलश्रुति में यज्ञकाल का नाम तक नहीं है। अतः यज्ञकाल कथन प्रक्षिप्त है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में ऋषि दयानन्द सरस्वती के कथनानुसार **भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्या को ज्योतिष** कहते थे। यह इस अन्वर्थक ज्योतिष शब्द से भी सिद्ध होता है।

जब से मनुशास्त्र के यज्ञ सिद्ध्यर्थं शब्द को द्रव्यमय यज्ञ मान लिया तब से वेदार्थज्ञ वा वेदार्थ जिज्ञासु किसी न किसी प्रकार वेदाङ्ग ज्योतिष का प्रयोजन कल्पना के आधार यज्ञकाल सिद्धि मानने वा लिखने लगे। वेदों के अध्ययनाध्यापन न्यून होने के कारण वेदार्थ में भूल होने लगी। वेद के प्रत्येक मन्त्र के अर्थ की व्याख्या में साधन रूप साथ ही ईश्वर स्वरूप ज्ञान कराने में असाधारण उपायभूत ज्योतिषशास्त्र रूपी महान् विज्ञान का भण्डार जो कि वेदाङ्ग ज्योतिष के नाम से प्रचलित रहा होगा, उसको कल्पित तथा मिथ्या अर्थ में प्रवृत्त कर दिया गया। वे सृष्टि के स्वरूपज्ञान से और वेदार्थज्ञान से स्वयं ही विमुख नहीं हुए अपितु अन्यों को भी विमुख कर दिया और विमुख कर रहे हैं। अब तो समय आ गया है कि वेद को सर्वज्ञ ईश्वर प्रदत्त सर्व विद्यामय तथा ज्योतिष को खगोल विज्ञान, उसी के आधार पर वेदार्थ व्याख्यान करने वाला और सृष्टि के ज्ञान के प्रदान के साथ सृष्टि कर्ता ईश्वर का बोध कराने वाला अनुपम ग्रन्थ समझें। इसी में अपना कल्याण, वेद विज्ञान की प्राप्ति एवं उसकी रक्षा निहित है। ओम शम्।

सम्पर्क - आर्ष गुरुकुल

वडलूर-कामारेडी (आ.प्र.) ५०३१११.

# यज्ञ की वैज्ञानिक मीमांसा

**- डॉ. सहदेव शास्त्री**

भारतदेश में यज्ञ की विशिष्ट परम्परा रही है। प्राचीनकाल में घर, परिवार, ग्राम, शहर, गुरुकुल व आश्रमों में यज्ञों का बहुत अधिक प्रचलन था। महर्षि राजे-महाराजे सभी विशाल यज्ञों का आयोजन करते-कराते थे। लोककल्याण के लिए तो यज्ञ करवाते ही थे, किन्तु विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वेदों में यज्ञ-यागादि विधि, क्रियाकलाप का विशेषरूप से वर्णन प्राप्त है। आर्यजाति का प्राचीन धर्मग्रन्थ अपौरुषेय वेद है। चारों वेदों में क्रमशः ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड एवं विज्ञानकाण्ड इन चार विषयों का मुख्यतः वर्णन प्राप्त है। चारों में से मुखस्थान यज्ञ कर्मकाण्ड को प्राप्त है। अतः स्पष्ट है कि वेद है, तो यज्ञ और यज्ञ है, तो वेद है। इस यज्ञ का प्राचीनतम होना सर्वप्रथम ऋग्वेद में प्रमाण है :-

**यज्ञस्य देवमृत्विजम् (ऋक्.१.१.१)** ऋग्वेदीय प्रथममंत्र में प्राचीन यज्ञविज्ञान सुसिद्ध है इस मन्त्र में यज्ञ, पुरोहित, ऋत्विज् और होता का स्पष्ट वर्णन है। अतः यज्ञ उतने पुराने हैं, जितना पुराना ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है। ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त के **'यज्ञेन यज्ञमयजन्तः देवाः, तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्'** (ऋ.वे.१.१७) से यज्ञधर्म सृष्टि की प्रथमावस्था प्राप्त है। द्वितीय प्रमाण कर्मकाण्डीय यजुर्वेद में प्राप्त हैं - **'ओ३म् जनयत्यै संयौमीदग्ने ..... वर्षिष्ठेऽधि नाके'** (य.वे.१.२२)। अथर्ववेद में मनुष्य के जीवन का प्रारम्भ ही यज्ञ से होता है। प्रजापति ब्रह्मा ने सृष्टिरचना के समय यज्ञ के साथ मानव को उत्पन्न करके उनसे कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी उन्नति होगी और यह यज्ञ तुम्हारे मनोवांछित फलदायक होगा। तुम इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को संतुष्ट करो और देवता तुम लोगों को यज्ञफल द्वारा संतुष्ट करेंगे तुम इस अत्यन्त कल्याणप्रद यज्ञ को प्राप्त करो और देवता तुम लोगों को

यज्ञफल द्वारा संतुष्ट करेंगे तुम अत्यन्त कल्याणपद को प्राप्त करो (**जानीत...
.... स्मकृणुताविरस्मै अ.वे. ६.१२३.३** ।) तथा **'यज्ञाः पृथ्वीं धारयन्ति'** अर्थात् यज्ञ ही पृथ्वी को धारण किए हुए हैं, वहीं पर **'य.वें.२०/८४ पावकाः न सरस्वती........ यज्ञं बष्टु धिया वसुः'** में कहा है कि पवित्र प्रसन्न होवे। इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है कि संसार का समस्त पदार्थ यज्ञस्वरूप है और उन समस्त यज्ञों के आश्रययुक्त परब्रह्म परमात्मा ही है। विष्णु धर्मोत्तरपुराण २.१०४ के **'वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः'** इस वचन से तथा **महर्षि मनु के 'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम्'** इस वाक्य से स्पष्ट है कि वेदों का प्रादुर्भाव यज्ञों के लिए हुआ है।

यज्ञ को हवन, होम या अग्निहोत्र भी कहते हैं। यज्ञ शब्द व्याकरणानुसार 'यज' धातु से नङ् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हैं, यज धातु के देवपूजा, संगतिकरण व दान ये तीन अर्थ हैं। तदनुसार संसार में जितने भी शुभकर्म हैं, वे सब यज्ञ शब्द से कहलाने योग्य है। **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** अर्थात् प्रत्येक श्रेष्ठकार्य यज्ञ की श्रेणी में आता है। इसकी महत्ता का चित्रण शतपथ ब्राह्मण एवं महर्षि दयानन्द के ग्रन्थ संस्कारविधि पंचमहायज्ञ विधि एवं सत्यार्थप्रकाश में सविस्तर वर्णित हैं। यज्ञशब्द यौगिक तथा योगरूढ़ि भेद से दो प्रकार है। योगरूढ़ि यज्ञशब्द से उन्ही क्रियाओं का ग्रहण होता है, जिनका विधान संहिता, ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्रों में है। श्रौतसूत्रों में इस पारिभाषिक यज्ञशब्द का अर्थ-देवता के उद्देश्य से हविः का त्याग करना लिखा है-**द्रव्यं देवतात्यागः ।** (कात्या. श्रौत.१.२.२)

**तीन प्रकार के यज्ञीय संसार :-** वेदों में यज्ञ के तीन प्रकार के संसार का वर्णन है। (१) आकाशीय :-जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारा, वायु, जल और विद्युत् आदि है। (२) संसार :- मनुष्य का शरीर है, जिसमें नगर, द्वार, राजा, ऋषि, शत्रु और उसी प्रकार के समस्त पदार्थ है, जिस प्रकार के आकाशीय संसार है। (३) यह पृथिवीस्थ संसार है, जिसमें उक्त सभी पदार्थ मौजूद हैं। वेदों के ये तीनों संसार आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक कहलाते

हैं। ये पिण्ड और ब्रह्माण्ड के यज्ञ निरन्तर जारी रहते हैं। अतः भौतिक यज्ञों से दोनों का सामंजस्य करना ही वैदिक यज्ञों का मुख्य उद्देश्य है। अतः वैदिक यज्ञ वैज्ञानिक नींव पर स्थित है जो पिण्ड ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखते हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड का परस्पर सम्बन्ध बताते हुए अथर्ववेद कहता है। **'सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्...।'** (अथर्व. ५.९.७) अर्थात् सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अन्तरिक्ष मेरी आत्मा (हृदय) है और पृथिवी मेरा शरीर है। मैं अपने आपको अपराजित समझकर द्यावा और पृथिवी के बीच में सुरक्षित रखता हूँ। यह मन्त्र पिण्ड और ब्रह्माण्ड का स्पष्ट सम्बन्ध रखता है। यजुर्वेद के दूसरे स्थानों में है कि **'शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत यस्यः.........।'** यहाँ भी उपर्युक्त सम्बन्ध वर्णित है। **सप्तास्यासन्....** यजुर्वेद के ३१.१५.१४ में यज्ञवेदी की सात परिधियाँ इक्कीस समिधा आदि का वर्णन है। यज्ञ का संगतिकरण, देवपूजा और दान तीन का अनुकूल ही वैज्ञानिक यज्ञ है। अर्थात् विषमता उपस्थित होने पर पुथिवीस्थ पदार्थों को लेकर वैज्ञानिक सिद्धान्त से पिण्ड-ब्रह्माण्ड में सामंजस्य उत्पन्न करना यज्ञ का प्रमुख कार्य है। अतः यजुर्वेद कहता है कि **'यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्, यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'** अर्थात् यज्ञ से यज्ञ कल्पित हुए हैं। देवता भी यज्ञ से यज्ञ करते हैं। यह शतपथ ब्राह्मण से स्पष्ट हैं कि **'यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा इति।'** अर्थात् ऋषि कहता है कि मैं यज्ञ से यज्ञ निर्माण करता हूँ। आर्य इसलिए यज्ञों को धर्म का मूल बतलाते हैं। अतः **'अयं' यज्ञो भुवनस्य नाभिः** अर्थात् यह वैदिक यज्ञ यज्ञ संसार के नाभितुल्य है।

**यज्ञों में विविध वैज्ञानिक विद्यायें :-** यज्ञों में आयुर्वेद, औषध, भैषज्य, ज्योतिष, भौगोलिक, वास्तुशास्त्र, गणित, पदार्थविज्ञान, कला-कौशल्य कृषि और पाकशास्त्र, पर्जन्य वृष्टि, पशुपालन, सार्वभौम राज्य, ललित कला व्याकरण, स्वरविद्या, लिपिकला, संसार की तुष्टि, पुत्रेष्टियज्ञ, ऋणमुक्ति आदि वैज्ञानिक विद्यायें सूक्ष्म रूप से निहित हैं।

**वेदोक्त यज्ञविधान का वैज्ञानिक आधार :-** (१) यज्ञ-हवन न करने से दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख और यज्ञ करने से सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है। (२) अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके फैल के वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है। (३) अग्नि में यह सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके बाहर निकालकर पवित्र वायु को प्रवेश करा देता है। (४) मंत्र बोलकर आहूति देने से होम करने के लाभ विदित होते हैं, वेदमंत्र कंठस्थ होते हैं। इससे वेद-ग्रंथों का पठन-पाठन और उनकी रक्षा होती है। (५) होम न करने से मनुष्य को पाप लगता है, क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न होके वायु और जल को बिगाड़ कर रोगोत्पत्ति को निमित्त होने से प्राणियों का दुःख प्राप्त करता है। (६) जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है। इसलिए होम करना अत्यावश्यक है।

**देश विदेशों में वैज्ञानिक यज्ञों की उपादेयता :-** आधुनिकयुग में भी यज्ञों का प्रचलन देश में ही नहीं अपितु विदेशों में भी बढ़ता जा रहा है। भारतदेश तो यज्ञ का घर या उत्पत्ति स्थल है ही किन्तु आज अमेरिका, पौलेण्ड, चिली, पश्चिमी जर्मनी में भी यज्ञ का प्रचलन एवं शोध कार्य तीव्र गति से हो रहा हैं। अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन में तो अग्निहोत्र विश्वविद्यालय की स्थापना भी हो गई है। अमेरिका अकेला देश है जो इस बात पर गर्व कर सकता है कि उस देश में ७ सितम्बर १९७८ से 'मेरी लैण्ड वाल्टीमोर' में अखण्ड़ हवन दिन-रात चल रहा है, उस स्थान का नाम अग्निहोत्र प्रेस फार्म है। आज पर्यावरण प्रदूषण की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई है। वृक्षों का निरन्तर कटाव, तेजगति से चलनेवाले वाहनों में पेट्रोल व डीजल के जलने से उत्पन्न विषैली गैसे, कल-कारखानों की चिमनियों से निकलने वाला धुआं, शहर के गन्दे पानी के नालों की बदबू, कल-कारखानों

से निकला अवशिष्ट कूड़ा-कचरा, रासायनिक द्रव्य आदि वायुमण्डल को प्रदूषित कर रहा है तथा प्राकृतिक सन्तुलन भी बिगड़ रहा है। वायुमण्ड़ल में २१ प्रतिशत आक्सीजन, ७८ प्रतिशत नाइट्रोजन, ०.३ प्रतिशत कार्बनडाई ऑक्साइड तथा १ प्रतिशत अन्य गैसें होती है। वायु में अन्य जहरीली गैसों के मिलने से वायुमण्डल संरचना में परिवर्तन होने से वायुप्रदुषण होता है।

पृथिवीतल से २४ से ४८ किलोमीटर के बीच में ओजोन गैस की परत पायी जाती है। यह ओजोन परत सूर्य तथा ब्रह्माण्ड के अन्य नक्षत्रों से आने वाली शक्तिशाली व घातक पराबैंगनी किरणों को पृथ्वी पर आने से रोकती है। साथ ही पृथ्वी से अन्तरिक्ष की ओर जाने वाले ताप विकिरण को वापिस पृथ्वी पर भेजकर जीवों की रक्षा करती हैं।

१९८५ में वैज्ञानिकों ने एक परीक्षण द्वारा यह पाया कि दक्षिणध्रुव के हिमप्रदेश (अंटार्कटिका महाद्वीप) के ऊपर ३० किलोमीटर पर वायुमण्ड़ल में ओजोन की परत में एक बड़ा छेद हो गया है। ओजोन की मात्रा में २० प्रतिशत की कमी हो गई है। वैज्ञानिकों ने इस बात को स्वीकार किया कि पृथ्वी पर होने वाली रासायनिक क्रियाओं से पर्यावरण में फैलने वाले प्रदूषण के कारण इस ओजोनपरत में छेद हुआ है। विशेषरूप से क्लोरो-फ्लोरो-कार्बन का प्रयोग रेफ्रिजरेटरों, वातानुकूलन संयत्रों, दुर्गन्धनाशक पदार्थों, प्रसाधनों व ग्रीन हाऊसों में होने से ओजोनपरत में छेद हुआ है। ओजोनपरत के छेद को नहीं भरा गया, तो पेराबैंगनी किरणों का घातक प्रभाव कैंसर, आंखों का ट्यूमर जैसे भयंकर रोगों को उत्पन्न करेगा तथा पेड़-पौधे भी प्रभावित होंगे।

इस जटिल समस्या का हल एकमात्र वैदिक यज्ञ कर सकता है। जब गाय के घी के साथ सामग्री की मन्त्रोच्चारण के साथ आहुति दी जाती है, तो निम्नप्रकार की चार गैसों के उत्पन्न होने पर पता चला है कि (१) एथिलिन आक्साइड (२) प्रापिलीन आक्साइड, (३) फार्मेल्डिहाइड (४) बीटा प्रापियो लेक्टोन। आहुति देने के पश्चात् घी से एसिटिलीन निर्माण होता है जो प्रखर

उष्णता की ऊर्जा है। यह दूषितवायु को अपनी ओर खींचकर उसे शुद्ध करती है। ये गैसें कई रोगों व मन के तनावों को दूर करने में सक्षम हैं। इन गैसों से ही ओजोन परत का छेद भी भरता है।

यज्ञ वायु में जल को ही शुद्ध नहीं करता बल्कि बादलों को भी वर्षा के अनुकुल बनाता है। यदि गाय के देशीघृत और मौसम के अनुकूल विशिष्ट सामग्री के बृहत् स्तर पर यज्ञ किया जाए, तो निश्चित रूप से वर्षा होती है। ऐसे कई परीक्षण देश-विदेश में हो चुके हैं। उदाहरणार्थ १९२१ में कैलिफोर्निया के मिस्टर हैड फील्ड ने कहा कि मैं आकाश से पानी बरसा सकता हूँ। वहां के किसानों ने २००० पौण्ड़ देकर अपने यहां पानी बरसना मंजूर किया। लिखा-पढ़ी हो गई और रूपया भी बैंक में जमा करा दिया गया। मिस्टर हैड फील्ड ने एक झील के किनारे सुनसान स्थान में एक झोपड़ी बनाई और अपनी क्रिया प्रारम्भ की। तीसरे ही दिन पानी बरसना शुरु हो गया और उन्होंने २००० पौण्ड बैंक से ले लिये। उन्होंने ५०० प्रयोग किए हैं और सभी सफल हुए हैं।

**महर्षि दयानन्द सरस्वती के वैदिक यज्ञ मन्तव्य :-** महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट लिखा है कि "आर्यावर्त्त देश में ऋषि-महर्षि, राजे-महाराजे लोग बहुत सा होम करते कराते थे जब तब इस होम करने का प्रचार प्रसार रहा तब तक आर्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुख से पूरित था, अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाये।"

अतः महर्षि ने पंचमहायज्ञविधि के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को पाँच प्रकार के वैदिक यज्ञ प्रतिदिन करने के लिए कहा है। (१) ब्रह्मयज्ञ (संध्योपासना व स्वाध्याय), (२) देवयज्ञ (अग्निहोत्र), (३) पितृयज्ञ (जीवित माता-पिता की सेवा), (४) बलि वैश्वदेवयज्ञ (पशु पक्षी, अपंग अपाहिज आदि की अन्न द्वारा सेवा), (५) अतिथियज्ञ (धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक विद्वानों की सेवा) आदि।

सम्पर्क : संस्कृत विभागाध्यक्ष

राज. महाविद्यालय, जैतारण (पाली) राज.

# वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

## क्या यह आप्त-वाक्य है ?

- डॉ. जयदत्त उप्रेती

संस्कृत के धर्म-दर्शन सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों में, विशेषत: उनकी टीकाओं में, बहुधा वैदिक यागादि के प्रसंग में यह वाक्य लिखा मिलता है-**''वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति''**। प्रश्न होता है कि इस कथन का मूलत: उपदेश कहाँ है और क्या यह कोई आप्तवाक्य है या नहीं। जहाँ तक मूल निर्देश की बात है, उसका तो अभी तक लेखक पता नहीं लगा पाया है, किन्तु यह प्रश्न मस्तिष्क में कुछ चिन्तन करने के लिए अवश्य प्रेरित करता है कि वैदिक हिंसा से क्या अभिप्राय है और यदि वह हिंसा है तो हिंसा न होकर अहिंसा कैसे है ? और क्या यह किसी वैदिक सिद्धान्त पर आधारित तत्वद्रष्टा वेदज्ञ ऋषि का कथन है, जिसे आप्तवाक्य मानकर यथार्थ और प्रामाणिक माना जाय अथवा अनाप्त वाक्य है, जिसके सत्य या असत्य होने में सन्देह हो ? प्रथमत: इसे स्पष्ट करते हुए वैदिक पृष्ठभूमि की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। अत: उस पर विचार किया जाता है-

कोई भी व्यक्ति, जिसका वैदिक शब्दों और संस्कृत भाषा से सामान्य भी परिचय हो, ऋग्वेद सहित चारों वेदों में ऐसे अनेक मन्त्रों को देख सकता है, जिनमें दुष्ट व्यक्तियों को अनुशासित करने, अपराध के अनुसार यथायोग्य दण्डित करने और अति उग्र अपराधी और आततायी को प्राणदण्ड देने का भी निर्देश मिलता है न केवल मनुष्यों के सम्बन्ध में ही यह व्यवस्था है, अपितु हिंसक पशुओं को भी मारने की आज्ञा वेदों में मिलती है। क्योंकि यदि अपराधी मनुष्यों और हिंसक पशुओं को यों ही बिना दण्डित किए छोड़ दिया जाय तो निश्चित है कि वे और अधिक अपराध और हिंसा कर प्राणियों को कष्ट पहुँचाते रहेंगे। इसलिए उन सभी प्रकार के हिंस्र स्वभाव के प्राणियों को नियन्त्रित करना और अत्यावश्यक होने पर मारना भी उचित है। सम्भवत:

इसी भावना से वेदों में उक्त दण्डव्यवस्था की आज्ञा है। यद्यपि यह सभी प्रकार का छोटा बड़ा दण्ड बिना हिंसा के नहीं हुआ करता, क्योंकि चाहे अर्थदण्ड हो, चाहे शारीरिकदण्ड हो और चाहे मृत्युदण्ड हो, सब में दण्डित किए जाने वाले प्राणी को अल्पाधिक कष्ट पहुँचता ही है, जो कि हिंसा ही कही जाती है। अतः यदि इस प्रकार की न्यायानुसार दण्डविधान से होनेवाली हिंसा को यदि यह कहा जाय कि वह हिंसा नहीं, किन्तु न्यायोचित कर्म होने से धर्म है तो ठीक ही कहा गया है। जैसा कि स्मृतियों में भी इसे हिंसा न कहकर धर्म और पक्षपातरहित न्याय कहा गया है। जैसे कि,

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः तस्माद् धर्मो ....वधीत्[१] ॥

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजादण्डयाँश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो ... गच्छति[२] ॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति। दण्डः सुप्तेषु ...विदुर्बुधाः[३] ॥

नृपस्य परमो धर्मः प्रजानां परिपालयम्। दुष्टनिग्रहणं नित्यं .... ह्युभे ॥

राजदण्डभयाल्लोकः स्वस्वधर्मपरो भवेत्। यो हि ..... भवेदिह[४] ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय ..... युगे[५] ॥

इसी प्रकार महान् राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी कहा है-"न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है[६]।

इन श्लोकों में धर्म और न्याय से तात्पर्य पक्षपातरहित व्यवहार, दुःखकारक कर्मों से व्यष्टि-समष्टि को रोककर सुख-शान्तिदायक कर्मों के प्रति प्रेरित करना है, अतः यदि इस प्रकार के वैदिक दण्डविधान अथवा न्यायव्यवस्था को सर्वथा न्यायोचित मानकर यह सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि वैदिकी हिंसा हिंसा न होकर धर्म है, तो लेखक की दृष्टि में वह ठीक कहा गया है।

परन्तु **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** कथन का अभिप्राय लगता है कि वैदिक श्रौतयज्ञों के विधि-विधानों में और अभिज्ञान शाकुन्तल तथा उत्तर रामचरित जैसे नाटकों में जहाँ पशुयाग के प्रकरण मिलते हैं, और उन पशुयागों में कहीं कहीं गौ, अश्व, अज, अवि, पुरुष के अंगों से यज्ञ करने का जो वर्णन मिलता है, उनमें कतिपय याज्ञिक परपम्परावादी लोगों का मानना है

कि ज्योतिष्टोम यज्ञ से इन पशुओं की हिंसा कर उनके वपा आदि अवयवों का होम करना रूप कर्म ही वैदिक हिंसा है। और यह शास्त्रीय विधान होने के कारण हिंसा न होकर अहिंसा है। इसी को लक्षित कर कहा गया है-**''वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति''**। इस पक्ष के समर्थन में मांससेवी यदि कोई कहे कि वैदिक आर्य शरीर-पोषण के लिए मांस प्राप्ति हेतु यज्ञों में पूर्वोक्त पशुओं का वध किया करते थे, तो यह नितान्त असत्य है। क्योंकि वेदों में दूध, दही, घी, मधु, सोमादि ओषधियों के रस तथा गेहूँ, जौ, चना, चावल, तिल, उड़द, मसूर आदि धान्यों के उपार्जन और सेवन करने का ही विधान मिलता है, मांस सेवन का कोई विधान नहीं। इस विषय में वेदों के निम्नांकित मन्त्र स्पष्ट प्रमाण हैं। यथा,

क) घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व (यजु. १२-४४) ख) घृतस्य धारा अभिचाकशीमि (यजु. १३-३८) ग) व्रीहिमत्तं यवमत्त अथो माषमथो तिलम् (अथर्व. ६-१४०) घ) पयः पशूनाँ रसमोषधीनाम् (यजु. अथर्व. ४-२७-३) ड) ऊर्क् च मे सनृता च मे पयश्च मे ..... वृष्टिश्च मे. (यजु. १८-९), च) ब्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च ..... मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ (यजु. १८-१२) इस मन्त्र में १२ प्रकार के खाद्यान्नों का वर्णन स्वयं में महत्त्वपूर्ण हैं। इसके विपरीत गौ. आदि पशुओं और निरपराध मनुष्यों को मारने या वध करने का वेदों में दृढ रूप में निषेध ही किया गया है। जैसे कि,

क) आप्यायध्वमघ्न्या .....र्यजमानस्य पशून् पाहि॥ (यजु. १-१) ख) इमं मा हिंसीद्विपादं पशुम्..... जनीयाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्। (यजु. १३-४७, ४८,४९) ग)-यदि नो गां हिंसी....। (अथर्व. ०१-१६-४)(घ) मा गामनागामदितिं वधिष्ट (ऋ. ८-११) ड) स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु ..... (अथर्व. १-३१-४) अघ्न्या अहन्तव्या भवत्यघ्नीति वा कहा है (निरुक्त. ११-४३) च) महाभारत शान्तिपर्व में कहा है-अघ्न्येति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति। (अ. २६२-४६) इ) अघ्न्याः अनुपहिंस्याः गावः (उवट. यजु. १-१ भाष्य), अघ्न्याः गावः गोवधस्योपपातकरूप-त्वाद्धन्तुमयोग्या

अघ्न्या उच्यन्ते। (महीधर. यजु. १-१ भाष्य), अघ्न्याः वर्धयितुमर्हा हन्तुमनर्हा गाव इन्द्रियाणि पृथिव्यादयःपशवश्च (दयानन्दसरस्वती, यजु. १-१ भाष्य)

इस प्रकार वेदों में न तो अहिंसक पशुवध का कोई कहीं विधान या वर्णन है, न ही उनके मांस के सेवन का कहीं उल्लेख है। इसके विपरीत प्राणीमात्र को मित्रवत् प्रेमपूर्वक व्यवहार-वर्ताव करने का ही वेद में उपदेश है, जैसे की यह मन्त्र है -

**दृते दृंह मा ...... मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।**[७]

इन सब प्रमाणों के होते हुए महान् आश्चर्य होता है यह देखकर कि यजुर्वेद माध्यन्दिनी संहिता के कतिपय मन्त्रों के अर्थों को उव्वट-महीधर जैसे भाष्यकारों ने अन्यथा दर्शाकर इनका विनियोग पशुयागों में किया है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद के मन्त्र १९-८९, २०-४४, ४५; ४६, २१-४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७ द्रष्टव्यार्ह हैं। २१-१७ वें मन्त्र के भाष्य में महीधर सुत्रामा इन्द्र, सविता और वरुण को पशुपुरोडाश देवता कहकर इनका सम्बन्ध प्रयाजानुयाजों के साथ बतलाते हैं।

अब इन मन्त्रों पर ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर दृष्टिपात करते हैं तो हम पाते हैं कि ये मन्त्र न हिंसापरक हैं और न पशुयाग से ही इनका सम्बन्ध है। यद्यपि यह एक तथ्य है कि जहाँ उव्वट-महीधर-सायण-स्कन्द-वैंकटमाधव आदि प्राचीन वेदभाष्यकारों के भाष्य पूर्वमीमांसानुसारी तथा श्रौतसूत्रों में विहित विनियोगों के आधार पर मुख्यतः यज्ञपरक हैं, और स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत भाष्य उनकी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में व्यक्त प्रतिज्ञा के अनुसार व्यावहारिक और पारमार्थिक (आध्यात्मिक) अर्थों की प्रधानता को लिए हुए है, तथापि ऊपर उदाहृत वेदमन्त्र (क से छ पर्यन्त) जब सामान्यतः सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखने की बात करते हैं और अहिंसक मनुष्य, पशु आदि किसी भी जीव के वध को निषिद्ध और धर्मविरुद्ध होने से पापकर्म मानते हैं तो यज्ञों में पशुवध का विधान चाहे ब्राह्मणग्रन्थों में हो अथवा श्रौतसूत्रों के पशुयाग या पशुमेधों के प्रकरणों में हो वेदानुकूल न होने से

प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि सब ऋषियों और आचार्यों ने वेद का प्रामाण्य सर्वोपरि माना है, और उन्हें सूर्यवत् स्वतः प्रमाण माना है[८]। ऐसी स्थिति में वेदोक्त धर्म के विरुद्ध वर्णनों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। दयानन्दकृत वेदभाष्य क्योंकि वेदमन्त्रों की भावना के अनुरूप तथा व्याकरण, निरुक्तादि वेदांगों के प्रमाणों से परिपुष्ट है, अतः वह यथार्थ और निर्दोष है।

जैसे कि यजुर्वेद १९-८९ मन्त्र के 'छागेन.... हविषा शतेन 'शब्दों का अर्थ उव्वट एवं महीधर **'छागरूपेण पक्वहविषा'** (अर्थात् अजा आदि के दूध के साथ और पकाये हुए ग्रहण करने योग्य होम के पदार्थ के साथ) ऐसा अर्थ करते हैं। यहाँ यजुर्वेद के ही २१ वें अध्याय के ४० से ४७ तक के जिन आठ मन्त्रों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें से केवल २१-४० वे मंत्र को ही, लेखविस्तार भय से, लिया जाता है। इस मन्त्र का विनियोग भाष्यकार उव्वट ने और महीधर ने प्रयाज देव अथवा आहवनीय अग्नि का होता यजमान द्वारा यजन करने में किया है और छाग, मेष, ऋषभ (बकरी, भेड़, बैल) को क्रमशः अश्वि, सरस्वती, इन्द्र देवताओं के लिए प्रस्तुत करते हुए उनकी चर्बी को आज्य में मिश्रित कर और पकाकर अभिधार आहुति दी जानी चाहिए, यह लिखा है जब कि दयानन्दभाष्य में आज्य अर्थात् घृत और मेदः अर्थात् स्निग्ध पदार्थों के संरक्षण करने उनके उचित उपयोग करने तथा एतदर्थ गौ आदि पाल्य पशुओं के संवर्धन, संरक्षण करना चाहिए, यह लिखा है। साथ ही उन्होंने छाग, मेष, ऋषभ तथा अश्वि, सरस्वती और इन्द्र इन मन्त्र गत शब्दों का सर्वथा यौगिक (व्युत्पत्तिजन्य धात्वर्थप्रधान) अर्थ किया है। इसी प्रकार उनके द्वारा अगले मन्त्रों में भी वपा का अर्थ बीजादि वंशवृद्धि का हेतु पदार्थ और मेदः का अर्थ दूध, दही, घी जैसे चिकने पदार्थों की प्राप्ति करना दर्शाना युक्तिबुद्धिसम्मत है, जो कि महर्षि की सूक्ष्मबुद्धि का द्योतक है। यथा, यजु. २१-४१ मन्त्र के भावार्थ में वे लिखते हैं-

'इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। जो मनुष्य पशुओं की संख्या और बल को बढ़ाते हैं, वे आप भी बलवान् होते और जो पशुओं से उत्पन्न

हुए दूध और उससे उत्पन्न हुए घी का सेवन करते हैं वे कोमल स्वभाव वाले होते हैं और जो खेती करने आदि के लिए इन बैलों को युक्त करते हैं, वे धनधान्ययुक्त होते हैं। (यजुर्वेद, दयानन्दभाष्य २१-४१)

अब ऐतरेय शतपथादिब्राह्मणों और आश्वलायनादि श्रौतसूत्रों के पशुयाग सम्बन्धी वर्णनों और उनके खण्डन-मण्डन विषयक परम्पराओं और आलोचकों पर दृष्टिपात करना भी अप्रासंगिक न होगा। लगभग पाँच-छः वर्ष पुरानी घटना है। मुझे दिल्ली संस्कृत अकादमी के सम्मेलन में एक बार परम्परावादी वैदिक पण्डित श्री पूर्णचन्द्र साहू जी जो कि तब संस्कृत डिक्शनरी प्रोजेक्ट, डकन कालेज पुणे में कार्यरत मिले थे, पशुयागों के सम्बन्ध में चर्चा करने पर उनसे ज्ञात हुआ कि पशुयागों में पशुवध करना और उनके अंगों से होम करना परम्परावादी वैदिक लोग सर्वथा वेदसम्मत और वैध मानते हैं। इस पर मैंने जब उनसे कहा कि वेदों के अनेक मन्त्रों में गौ, अश्व, अजादि पशुओं के वध का स्पष्ट निषेध है तो यह यज्ञों में पशुमारणकर्म कैसे वेदसम्मत माना जा सकता है और इसका विरोध क्यों न किया जाय ? इस पर वे बोले कि यज्ञकर्म में हिंसा अप्रतिषिद्ध है, अन्यत्र प्रतिषिद्ध है। जब मैंने कहा यज्ञ को अध्वर भी कहा जाता है और अध्वर शब्द का अर्थ निरुक्त के अनुसार हिंसारहित कर्म हुआ करता है, तब उसमें हिंसा क्यों ? क्या वह हिंसा सर्वथा वेदविरुद्ध निरपराध प्राणिवधरूप पापकर्म नहीं माना जायेगा ? इस के प्रत्युत्तर में वे बोले नहीं, ब्राह्मणादि में विहित पशुयागों में प्रचलित हिंसा के लिए ही तो कहा जाता है-**'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'**। इस पर हमारा कथन था क्योंकि यह कोई वेदवाक्य नहीं है, इसलिए इसको प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए। एतदर्थ हम क्यों न ऋषि दयानन्द का धन्यवाद करें कि जिन्होंने अपनी दिव्य आर्ष दृष्टि से इन हिंसामय यज्ञों का इस युग में घोर प्रतिवाद किया और निर्दोष अग्निहोत्रादि वेदसम्मत पद्धति का विधान और प्रचार-प्रसार कर महान् लोकोपकार किया है।

अब हिंसापरक इन पशुयागों का और तत्समर्थक सायणादि भाष्यकारों

के भाष्यों को अवैज्ञानिक और वेदों की मूलभावनाओं के विपरीत सिद्ध करने वाले और ऐतरेयब्राह्मण का वैज्ञानिक दृष्टि से अनुसन्धान करने में गम्भीरता से प्रवृत्त हो रहे श्री आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक के उद्‌गार भी इस प्रसंग में जानने योग्य हैं। वे लिखते हैं -

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद का है, तब इसमें भी पदार्थों का विज्ञान होना चाहिए। इस में वर्णित सोमयाग भले ही उस याज्ञिक काल में प्रचलित हो, परन्तु याज्ञिक काल में याज्ञिक महर्षि लोग उस सोमयाग के पीछे सृष्टि के रहस्यों को स्पष्टतया जानते थे और उस विज्ञान को जानने हेतु ही प्रतीक रूप में ही उन यज्ञों का प्रचलन किया होगा। सोम शब्द का अर्थ ऋ. ०१/२/१ में महर्षि जी ने सोमलता न करके संसार के समस्त मूर्तिमान् पदार्थ किया है तब सोमयाग का अर्थ ओषधिविशेष के साथ याग तक सीमित हो ही नहीं सकता। .... पशुबलि आदि तो अवैदिक क्रूर मान्यता होने से कदापि मान्य नहीं। इस ब्राह्मण में तो आज के अति विकसित माने जाने वाले विज्ञान को भी झंकृत करने का सामर्थ्य है।

ऋषि दयानन्द जी ने शतपथादि के प्रमाणों के द्वारा घोषणा की, **'अग्निर्वा अश्वः'। 'आज्यं मेधः, राष्ट्रं वा अश्वमेधः।' 'अन्नं हि गौः'** अर्थात् न्याय धर्म से प्रजापालन करने के साथ अग्नि में घृत का होम करना ही 'अश्वमेध', अन्न, इन्द्रियाँ, किरण, पृथिवी, आदि को पवित्र रखना 'गोमेध', जब मनुष्य मर जाये तब उसके शरीर का विधिपूर्वक दाह करना 'नरमेध' कहाता है। (द्रष्टव्य, आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक रचित पुस्तक-समर्पणम् पृ. २१-२७)

श्री अग्निव्रत जी ने ऐतरेय ब्राह्मण के सोमयाग सम्बन्धी इन हिंसाप्रधान माने जाने वाले प्रकरणों को दुष्ट वाममार्गियों द्वारा प्रक्षेपित किए जाने का भी खण्डन किया है, और तर्क दिया है कि ऋग्वेद जैसे पदार्थविज्ञान के भाष्य रूप महर्षि महिदास रचित ऐतरेय ब्राह्मण में प्रक्षेप कैसे हो सकता है? उन्होंने इन प्रकरणों का अपनी ऊहा से विज्ञान परक अर्थ किया है।

आचार्य अग्निव्रत जी का वैज्ञानिक व्याख्यान इस प्रकार है-

'उस संयोज्य कण को आच्छादित करने वाले कण अथवा सूर्यादि प्रकाशक लोक को आवृत करने वाले त्वचा तुल्य वायु के आवरण को छेदते हैं। जब कोई पदार्थ उसमें बाहर से प्रविष्ट होता है तब यह क्रिया होती है। यहाँ हम स्थूल उदाहरण के रूप में कण के स्थान पर सूर्यादि का ग्रहण करेंगे। यह क्रिया गणों के संयोगादि में भी लगभग इसी प्रकार सम्पन्न होगी। कण में उसके केन्द्रीय भागस्थ ऊर्जा भी बहिर्गमन नहीं कर सकती। वे प्राण वहीं रहते हैं। क्रिया केवल इलेक्ट्रनों की बाहरी कक्षाओं में ही होती है। और उनसे भी लघु कणों में भी इसी प्रकार समझा जा सकता हैं। (वही. पृ. ३२-३६) इत्यादि।

इतनी बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि आलोच्य ब्राह्मण ग्रन्थ के सम्बद्ध प्रकरण सूर्य, अग्नि, सोम, उषा, गौः (पृथिवी, किरण, वाणी आदि) आदि का पुनः पुनः नामनिर्देश करने से अनुमान होता है कि ये पदार्थ सृष्टि की रचना और उसके नियमों की कोई सूक्ष्म और गूढ़ जानकारी दे रहे हैं, जिसको प्राच्यविद्या के साथ साथ आधुनिक पदार्थ विज्ञान के उच्च अध्ययन से ही कदाचित् समझा जा सकता है।

अब इस लेख को उपसंहार की ओर ले चलते हुए यदि 'वैदिक हिंसा अहिंसा है' मुख्य बिन्दु पर मीमांसक विद्वानों के अभिमत की चर्चा न की जाय तो यह अधूरा रह जायेगा। अतः प्रसिद्ध मीमांसा शास्त्र के विद्वान् महामहोपाध्याय पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी द्वारा जैमिनीय मीमांसादर्शन शाबरभाष्य की आर्षमत विमर्शिनी हिन्दी व्याख्या के आरम्भ में प्रस्तुत विस्तृत 'श्रौतयज्ञ मीमांसा' से उनके ऐतिहासिक और शास्त्रीय निष्कर्षों पर दृष्टि डालना अपेक्षित है। वे लिखते हैं-

'यज्ञों' के विकास का जो क्रम उपलब्ध होता है, उसमें अग्नि के एकत्व, त्रित्व और पंचत्व के साथ साथ यज्ञों के लिए एक वेद, दो वेद और तीन वेद के विनियोजन का क्रम भी देखा जाता है। तदनुसार प्रारम्भ में एक अग्नि (अंगिरसा वा एकोऽग्निः ए. ब्रा.६-२४) के होने से एकाग्निसाध्य यजुर्वेद मात्र

से होने वाले अग्निहोत्रादि होमों का ही प्रचलन हुआ।

तदनन्तर महाराज पुरुरवा ऐल द्वारा अग्नि के त्रेधा विभाजन होने पर त्रेताग्निसाध्य (तीन अग्नियों में किये जाने वाले) दो वेदों (यजु. ऋक्र) से किये जाने वाले दर्शपौर्णमासादि, तथा तीन वेदों (यजुः ऋक्र, साम) से किये जाने वाले ज्योतिष्टोमादि यज्ञों को और तत्पश्चात् पंचाग्निसाध्य विविध क्रियाकिलाप की प्रकल्पना हूई

यतः प्रारम्भ में यज्ञों की कल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर की गई थी, अतः प्रारम्भ में कल्पित यज्ञों का आधिदैविक जगत् के साथ साक्षात् सम्बन्ध था। यथा अग्निहोत्र का अहोरात्र के साथ दर्शपौर्णमास का कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष के साथ तथा चार्तुमास्य का तीनों ऋतुओं के साथ अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास की आधिदैविक व्याख्या शतपथ के वे काण्ड में मिलती है। चार्तुमास्य के लिए ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है-

**"भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्माहृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते।"** (कौषीतकी ब्रा. ५-१) इसी प्रकार गोपथ ब्रा. उत्तरार्द्ध १-१९ में भी कहा है। महाभारत शान्तिपर्व २६९-२० में अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य इन तीन यज्ञों को ही प्राचीन यज्ञ कहा है-

**दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।**
**चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः॥**

(श्रौतयज्ञमीमांसा, पृ. १०४-१०५)

यज्ञों में पशुवध की प्रथा उत्तरकाल में प्रचलित हुई, आदिकाल में यह कुत्सित प्रथा नहीं थी। इस तथ्य को दर्शाने के लिए पं. मीमांसक जी ने चरकसंहिता चिकित्सा स्थान १९-४ का यह प्रमाण उद्धृत किया है -

**"आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म।"**

अर्थात् आदि काल में यज्ञों में पशु स्पर्शनीय होते थे। अर्थात्

पर्यग्निकरणान्त कार्य करके उनको छोड़ दिया जाता था। उनका वध नहीं होता था। तत्पश्चात् मनु के नाभाग, इक्ष्वाकु प्रभृति पुत्रों के यज्ञों में **'यज्ञ में पशुओं का मारना अभिप्रेत है'** यह मानकर यज्ञों में पशुओं का आलम्भन आरम्भ हुआ।

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि आदिकाल में यज्ञों में पशुओं का वध नहीं होता था। यज्ञ में पशुओं को मारने की प्रथा उत्तरकाल में आरम्भ हुई। इसकी पुष्टि महाभारत शान्तिपर्व अ. ३३७, अनु. ६-३४, ११६-५६.५८ तथा वायुपुराण ५७/९१-१२५ में उल्लिखित उपरिचर वसु कथा से भी होती है। यज्ञों में पशुवध कैसे आरम्भ हुआ, इसका निर्देश शान्तिपर्व २६३-६ में इस प्रकार उपलब्ध होता है-

**लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्म नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम्।**
**वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम्।**

इस वचन में लोभी धनैषणावाले नास्तिकों द्वारा वेदवाद (=वेद के कथन) को न जानकर। पशुहिंसा-प्रवर्तन का उल्लेख किया है। पशुहिंसा-प्रवर्तन का उल्लेख किया है। ... इसकी पुष्टि आयुर्वेदीय चरकसंहिता के पूर्वोक्त उद्धरण में निर्दिष्ट 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमापुः'' (=यज्ञ में पशु के वध का निर्देश है, यह स्वीकार करके पशुओं का वध आरम्भ हुआ) वचन से भी होती है। (पृ. १०७-१०८)

**'अज'** शब्द के अर्थ में भ्रम-अज शब्द के दो अर्थ हैं-एक **'छाग'**= बकरा, और दूसरा-न उत्पन्न होने वाला। प्राचीन आगम ग्रन्थों में निर्दिष्ट **'अजैर्यष्टव्यम्'** आदि वाक्यों में **'अज'** शब्द बकरे का वाचक है, अथवा **'न उत्पन्न होने वाले'** अर्थ का, इसकी मीमांसा न करके **'योगाद् रूढिर्बलीयसी'** न्यास के अनुसार **'अज'** शब्द का अर्थ छाग समझने से यज्ञ में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई। इस भ्रम पर निम्न प्रमाण विशेष प्रकाश डालते हैं-

क) महाभारत शान्तिपर्व अ. ३३७ में देवों और ऋषियों का एक संवाद

उपलब्ध होता है। उसमें काह है-

**अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान्।**
**स च छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यःपशुरिति स्थितिः।**

ऋषय ऊचुः-

**बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।**
**अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥**
**नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः।**
**इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः॥**

अर्थात्-देवों ने कहा **'अज'** से यज्ञ करना चाहिए, ऐसा विधान है और वह अज भी छाग अर्थात् बकरा जानना चाहिए, अन्य पशु नहीं। ऋषियों ने कहा-बीजों से यज्ञ करना चाहिए, यह वैदिकी श्रुति है। अज बीजों की संज्ञा है, इसलिए छाग का वध नहीं करना चाहिये। यह वैदिकी श्रुति है। अज बीजों की संज्ञा है, इसलिए छाग का वध नहीं करना चाहिये। जहाँ पुश का वध होता है, वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं है।

ख) यद्यपि इस प्रकरण में **'अजसंज्ञक'** बीज कौन से हैं, इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता, तथापि वायुपुराणान्तर्गत उपरिचर कथा में कहा है-

**यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते।**
**त्रिवर्षपरमं कालमुषितैरप्ररोहिभिः॥** ५७-१००, १०१।

अर्थात्-हे सुरश्रेष्ठ! उन बीजों से यज्ञ करो, जिनमें हिंसा नहीं है। जो तीन वर्ष से अधिक पुराने और (खेत में) उगने में असमर्थ हों'।

वायु पुराण के इस श्लोक में **'अज'** का अर्थ **'अप्ररोही'** शब्द से दर्शाया है। इस वचन से यह भी ध्वनित होता है कि खेत में उगने योग्य धान्यों से भी यज्ञ करना अनुचित है। कहाँ अहिंसाप्रिय ऋषियों का उगने में समर्थ बीजों से भी यज्ञ न करने का निर्देश, और कहाँ आर्ष ग्रन्थों में यज्ञ में पशुहिंसा का वर्णन ? क्या आर्ष ग्रन्थों में पशुहिंसापरक वचनों का उत्तरकाल में प्रक्षेप हुआ है ?

ग) मत्स्यपुराण में भी इसी कथा के प्रसंग में कहा है- 'यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्ग-परिमोषितैः । (१४३-१४) यहाँ त्रिवर्गपरमोषितैः पाठ होना चाहिए।

घ) महाभारत और पुराणों में प्रतिपादित **'अज'** शब्द के तात्त्विक अर्थ का निर्देश जैनग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। स्याद्वादमंजरी में भी लिखा है-

'तथाहि किल वेदे 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽज-शब्दं पशुवाचक व्याचक्षते। सम्यग्दृशस्तु जन्मायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि पंचवार्षिकं तिलमसूरादि, सप्तवार्षिकं कंकुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसायन्ति। (श्लो. २३ की व्याख्या, पृष्ठ १०७, १०८)

अर्थात्-वेद के **'अजों'** से यज्ञ करना चाहिए इत्यादि वाक्यों में मिथ्यादृश (अज्ञानी) अज शब्द को पशुवाचक कहते हैं। सम्यग्दृश (ज्ञानी) जन्म के अयोग्य तीन वर्ष के जौ, व्रीहि आदि पाँच वर्ष के तिल, मसूर आदि, सात वर्ष के कंकु सर्षप आदि धान्य के पर्याय रूप में परिणत करते हैं।

ङ) इसी की प्रतिध्वनि पंचतन्त्र में भी उपलब्ध होती है। वहाँ लिखा है- 'एतेऽपि याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति, ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति। तत्र किलै तदुक्तम-'अजैर्यष्टव्यम्' । **अजा व्रीहयः सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनःपशुविषेषः ।'**

अर्थात्-ये याज्ञिक भी यज्ञकर्म में पशुओं को मारते हैं, वे मूर्ख वेदवचन के ठीक अर्थ को नहीं जानते। वेद में कहा है- 'अजों' से यज्ञ करना चाहिए। अज सात वर्ष पुराने व्रीहि कहे जाते हैं, न कि पशुविशेष (बकरा)।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि जिन प्राचीन यज्ञागमों में 'अजैर्यष्टव्यम्' ऐसा विधान था, वहाँ भी अज का अभिप्राय खेत में उगने के अयोग्य पुराने धान्यों से था, बकरों से नहीं परन्तु उत्तर काल में जब भ्रान्ति से इस वचन में 'अज' का अर्थ बकरा समझा गया, तब उस भ्रान्ति से यज्ञ में पशु की हिंसा प्रारम्भ हुई। (वही, पृष्ठ १६७-१६८)

म.म. मीमांसक जी ने इस प्रकरण में पुरुषमेध, अश्वमेध, गोमेध, अजमेध,

अविमेध, पशुयाग, पशुपुरोडाश, आलम्भन आदि विषयों पर प्रामाणिक और विस्तृत जानकारी प्रदान की है। जोकि बहुत उपयोगी है। उनका यह दृढ़ अभिमत है कि यज्ञ में जहाँ कहीं भी पशुहिंसा का विधान या वर्णन है, वह वेदसम्मत न होने से सर्वथा गर्हित, निन्दनीय और त्याज्य कर्म है। इस पशुहिंसा की असारता को उसके समर्थकों द्वारा भी हृदय से तुच्छकर्म माना जाने लगा था, तभी तो उन्होंने पाराशरस्मृति के नाम से एक श्लोक (जो उसमें नहीं मिलता है) इस प्रकार बना डाला-

**अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम्।**
**देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पंच विवर्जयेत्॥**

जिसके अनुसार कलियुग में अश्वालम्भन, गवालम्भन, संन्यास, श्राद्ध में पितरों को मांस परोसना और देवर से पुत्र की उत्पत्ति कराना (सम्भवतः नियोग द्वारा) वे पांच कर्म नहीं करने चाहिए।

इस प्रकार **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** से सम्बन्धित यह विवेचन पूर्ण हुआ। इति।

सम्पर्क : स्वस्त्ययन, तल्ला थपलिया,
अल्मोड़ा २६३६०१, उत्तराखण्ड.

**सन्दर्भ :**

**१. मनुस्मृतिः, अध्याय ८, श्लोक १५**
**२. वही, ८-१२१ ३. वही, ७-१८**
**४. शुक्रनीतिः, अध्याय १, श्लोक १४, २३**
**५. भगवद्गीता, अध्याय ४, श्लो. ८**
**६. श्री मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती।**
**७. यजुर्वेद, माध्यन्दिनी संहिता, अध्याय ३६, मन्त्र १८**
**८. विरोधे त्वनपेक्ष्यंस्यादसति ह्यनुमानम्। (पूर्वमीमांसादर्शनम्, १-३-३ सूत्रम्) (सूत्रार्थ- श्रुति और स्मृति के विरोध होने पर तो स्मृति अनपेक्ष्यम्-अपेक्षा के योग्य नहीं है, अर्थात् अप्रमाण है। विरोध न होने पर निश्चय से स्मृतिमूलक श्रुति का अनुमान होता है। द्रष्टव्य-मीमांसाशाबरभाष्य पर म.म.पं. युधिष्ठिर मीमांसक-रचित आर्षमत-विमर्शिनी हिन्दी व्याख्या, पृष्ठ २२२।**

# वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

– आचार्य बृहस्पति
गुरूकुल नवप्रभात आश्रम (उड़ीसा)

परमपिता परमात्मा की इस अनुपम सृष्टि में मनुष्य समुदाय दो ही प्रकार का है, एक तो दैवी प्रकृति वाला और दूसरा आसुरी प्रवृत्ति वाला। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है ....

**'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च'।**

अहिंसा, सत्य, अक्रोधादि जहाँ दैवीसम्पदा के रूप में विवेचित हैं वहाँ दम्भ, दर्प, हिंसादि आसुरी सम्पदा के अंश विशेष हैं। दैवी प्रकृतिवाले पुरुष दैवी सम्पदा की उपासना तथा विस्तार करते हैं और आसुरी प्रकृतिवाले पुरुष आसुरी सम्पदा की उपासना तथा विस्तार में अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं। फलस्वरूप **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** जैसी दम्भोक्ति लोक में फलती फूलती अपनी विकराल काया विस्तार करने में अप्रतिहत प्रतीत होती है।

''वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'' यह उक्ति सर्वथा अनार्ष, आप्त पुरुषों के द्वारा अस्वीकृत तथा वैदिक वाङ्मय में कहीं पर भी इसका उल्लेख न मिलने के कारण ग्रहण करने योग्य नहीं है। सर्वप्रथम वैदिक शब्द पर विचार करें तो इसका अर्थ होता है **वेदे भवा** अर्थात् वेद में होने वाली। तो क्या वेदों में किसी तरह की हिंसा प्रतिपादित है ? नहीं, क्योंकि वेदों में कठोर शब्दों से हिंसा की भरपूर निंदा की गई है। जैसा कि अथर्ववेद का ऋषि कहता है -

**यदि नो गां हिंसि यद्यश्वं यदि पुरूषम्**
**तंत्वा सिसेन विध्यामो यथा नोऽसोऽवीरहा॥**

अथर्व १/१६/४

गाय आदि पशुओं को मारने वालों को राजा द्वारा कठोर दण्ड देने का विधान ऋग्वेद में स्पष्ट है -

**आरे ते गोघ्नमुत पुरूषघ्नं क्षयद्वीरसुम्नमस्मेते अस्तु।**
**मृडा च नो अधि ब्रूहि देवाघा नः शर्मयच्छद्विबर्हा ॥**

ऋ. १/११४/१०

यदि वेदों में कहीं पर हिंसा का विधान होता तो यजुर्वेद का ऋषि प्रथम मन्त्र में यह न कहता ''यजमानस्य पशून् पाहि''। इस मन्त्रांश में यजमान के पशुओं की रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है। इसी तरह पशु हिंसा निषेध करनेवाले बहुत सारे मंन्त्र वेदों में पाये जाते हैं। जैसे -

''इमं मा हिंसीः द्विपादम् पशुम्'' यजु. १३/४७
''पशुंस्त्रायेथाम्'' यजु. ६/११
''मा गामनागामदितिम् वधिष्ट'' ऋ.८/१०१/१५

यह सर्वविदित है कि यज्ञ एक पवित्र वैदिक अनुष्ठान तथा सर्वश्रेष्ठ कर्म हैं, उसमें भला पशुहिंसा कैसे संभव हो सकती है ?

यज्ञ सर्वविदित है कि यज्ञ एक पवित्र वैदिक अनुष्ठान तथा सर्वश्रेष्ठ कर्म है, उसमें भला पशुहिंसा कैसे संभव है ? यज्ञ का एक पर्यायवाची शब्द अध्वर भी है, हिंसा वर्जित कर्म ही अध्वर कहलाता है। क्योंकि अध्वर का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है - अध्वानं, सत्पथम् राति ददाति इति अध्वर। निरूक्त शास्त्र में तो आचार्य यास्क कहते हैं ''ध्वरति हिंसा कर्मा तत् प्रतिषेधो निपातः अहिंस्त्र इति''। इस विषय में महाभारत में भी कहा गया है -

**'सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मुनिरब्रवीत्।**
**कामकारत् विहिसन्ति बहिर्वेद्याम् पशून् नराः'' ॥**
**सुरामत्स्याःमधुमांसमासवं कृशरौदनम्।**

**धूर्त्तैं प्रवर्तितम् ह्येतत् नैव वेदेषु कल्पितम् ॥**

**मानात् मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत् प्रकल्पितम् ॥**

महा.भा.शान्ति. अ. २६५/५,८,९

आगे चलकर और भी स्पष्ट करते हुए महर्षि व्यास कहते हैं -

**'अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यम् इति वै वैदिकी श्रुतिः ।**

**अज संज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ ।**

**नैष धर्मः सतां देवाः यत्र वध्येत वै पशुः ॥'**

महा.भा.शान्ति.अ.३३७/४,५

पंचतन्त्रकार पण्डित विष्णुशर्मा ने भी काकोलूकीयम् प्रकरण में हिंसक याज्ञिकों को तिरस्कार करते हुए कहा है-

'एतेऽपि याज्ञिकाः यागकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति । एते मूर्खाः परमार्थ श्रुतेर्न जानन्ति । तत्र किल एतत् उक्तम् अजैर्यष्टव्यम् इति । अजाः व्रीहयः वार्षिकाः न पुनः पशु विशेषः । उक्तं च -'

**''वृक्षान् छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रूधिर कर्दमम् ।**

**यद्देवं गम्यते स्वर्गं नरकं केन गम्यते ॥ ''**

इन कथनों से यह ध्वनित होता है कि वेदों के मर्म को न समझने वाले मूर्खों ने यह पशुहिंसा की जघन्य लीला चलाई है । जिस लीला को देखकर चार्वाक जैसे नास्तिक विद्वानों को भी मृदु उपहास करने का अवसर प्राप्त होता है ।

**''पशुश्चेत् निहितः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।**

**स्व पिता यजमानेन तत्र कथं न हिंस्यते ॥ ''**

युगजन्मा महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती तो इस प्रसंग में सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में पूर्वपक्षी के प्रश्न का उत्तर देते हुए आवेश भरे शब्दों में कहते हैं-'वैदिकी हिंसा हिंसा नहीं तो तेरे कुटुम्ब को मारकर होम

कर डालें तो क्या चिन्ता है ?'

विचारणीय यह है कि इन निशाचरों को वेद जैसे पवित्र और ज्ञान विज्ञान के शेवधि कहे जाने वाले अपौरुषेय ग्रन्थ में अर्थों को अनर्थ करने का साहस कैसे हुआ ? क्योंकि आसुरी प्रकृतिवालों की प्रवृत्ति ही कारण है। जैसे क्रीड़ावन में ऊँट की प्रवृति कण्टक अन्वेषण में ही होती है। महाकवि बिल्हण के शब्दों में -

**'निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥'**

महामना महर्षि मनु तो **'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला'** कहकर परिहार करते हैं। वेदों में जिन शब्दों, मंन्त्रों और प्रकरणों को लेकर पशुयागी लोगों ने पशुयाग जैसे अन्तर्घाती तथा घृण्यकृत्यों में प्रवृत्त होकर अनादि निधना भगवती श्रुति की जो महिमामण्डित गरिमा है - **'एकः शब्दः सुविज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति'** इस पर जो कुठाराघात किया हैं इस विषय की ओर विद्वानों की दृष्टि आकर्षण करते हैं।

स्थालीपुलाकन्यायेन उन शब्दों या स्थल विशेषों को उद्धृत करते हैं। जैसे-पशु, यूप, संज्ञपन, आलम्भन, अवदान, गोघ्न आदि। **'अनन्ता वै वेदाः'** वेद अनन्त ज्ञान वाल हैं। परन्तु किसके लिए ? जो बहुश्रुत, भूयोविद्य और तत्वदर्शी हैं, वे ही वेद की अनन्तता को समझ सकते हैं। व्याकरण, इतिहास, निरुक्त, पुराणादि शास्त्रों के गहन अध्ययन के बिना वेद और उसके व्याख्यान करनेवाले ब्राह्मण ग्रन्थों को समझना तो दूर की बात है उसमें प्रवेश ही नहीं हो सकता। प्रवेश हो भी जाए तो **'पंके गौरिव सीदसि'** वाली बात होगी। उन अल्पश्रुतों से भगवती श्रुति बहुत भयभीत रहती है -

**'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।**
**बिभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥'**

इसके साथ पाणिनि, पतंजलि, यास्कादि महर्षियों द्वारा प्रदर्शित प्राचीन यौगिकवाद का आश्रय लेना भी आवश्यक है। जिस यौगिकवाद का महर्षि दयानन्द स्वामी ने आश्रय लेकर विश्व के सामने वेदों के यथार्थ स्वरूप को उपस्थापित कर गौरवान्वित किया है। यौगिक का मतलब प्रत्येक नाम को धातुज मानना। वेद व्यापक यौगिक अर्थों से पूर्ण होने के कारण अनन्त ज्ञान वाले हैं। यौगिक शैली के बिना अनन्त अर्थ का परिप्रकाश नहीं हो समता। अतः वेदार्थ परिप्रकाश में यौगिकवाद अपरिहार्य है। द्वितीयतः विनियोगवाद का दुरुपयोग न कर यथास्थान उपयोग करना होगा। नहीं तो मांसलप्रज्ञ नवीन मीमांसकों की तरह बड़ी दुर्गति होगी। क्योंकि विनियोग के बारे में वेद और ब्राह्मण के मर्मज्ञ तलस्पर्शी विद्वान् पूज्य स्वामी समर्पणानन्द जी कहते हैं - **'अन्यत्रोपात्तानां वाक्यानां यथास्थानमुपयोगो विनियोगः'**। अर्थात् किसी एक ग्रन्थ के विशेष प्रकरण को प्रसंगानुसार वैसे ही प्रकरण में उपयोग करना विनियोग कहलाता है। अन्यथा अर्थ के स्थान पर अनर्थ हो जाता है।

मीमांसा दर्शन में जाघनी का पशुयाग में उत्कर्ष निरूपण करते हुए महर्षि जैमिनि लिखते हैं - **'जाघनी चैकदेशत्वात् (३.३.२०) जाघनी पशोः पुच्छम्'**, दर्श पौर्णमास यज्ञ में **''जाघन्याः पत्नीः संयोजयन्ति''** दान में दिये जाने वाले पशु के पुच्छ को हाथ में पकड़कर ''पत्नी संयाज'' नाम चार आहुति दी जाती है। किन्तु उसका कदर्थ कर पशु का अवयव जाघनी का विधान है, पशु का नहीं। कहकर पुँछ काटकर आहुति दिलाना बहुत दुर्भाग्य की बात है। यद्यपि मीमांसा दर्शन के लब्ध प्रतिष्ठ भाष्यकार शबरस्वामी **'चोदना लक्षणो अर्थो धर्मः'** सूत्र के भाष्य में लिखते है- **'हिंसा च प्रतिषिद्धा'** समस्त वेदों में हिंसा प्रतिषिद्ध है। इसी प्रकार महर्षि व्यास ने योग भाष्य करते हुए लिखा है - 'हिंसकः प्रथमन्तावदवध्यस्य

वीर्यमाक्षिपति ततः शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति, ततो जीवितादपि मोचयति *** यदि च कथंचित् पुण्यादपगता भवेत् नत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति'। महाराज मनु भी कहते हैं -

**'योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।**
**सजीवँश्च मृतश्चैव न कश्चित् सुखमेधते॥'**

अब वेदों में आये पशुयागवादियों को प्रश्रय देने वाले पशु आदि शब्दों पर विचार करें -

**१. पशु :-** पशु का अर्थ वेद में बालक अर्थ में भी आता है। क्यों कि बालक का जीवन आरम्भ में निसर्ग बुद्धि से चलता है। मनन शक्ति बाद में उत्तरोत्तर बढ़ती है। किन्तु पशु निसर्ग बुद्धि से देखता है-**'पश्यति इति पशुः'**। अथर्ववेद में एक मन्त्र आया है -

**'वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थात् नानारूपाः पशवो जायमानाः।'** अथर्ववेद १४/२/२६

नववधू के आशीर्वाद प्रसंग में कहा गया है - इस माता के गोद में जो पशु जन्म लेवें उन्हें प्रतिष्ठा लाभ हो। यहाँ कोई भी प्रेक्षापूर्वकारी विद्वान् भाष्यकार पशु का अर्थ बालक ही करेगा। ग्रिफिथ आदि कट्टरपन्थी वैदेशिक विद्वानों को भी इसका अर्थ Babies करना पड़ा है।

**२. यूपः -** यूप शब्द पर विचार करें तो लौकिक कोषगत अर्थ तो यज्ञस्तम्भ ही है। जैसे कि कुमारसंभव में पार्वती की तपस्या वर्णन प्रसंग में महाकवि कालिदास कहते हैं -

**'अपेक्ष्यते साधु जनेन वैदिकी श्मशान शूलस्य न यूपः सत्क्रिया।'** (कु.३/६/४)

किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ में यूप का अर्थ शिक्षक वा यजमान होता है। क्यों

कि शतपथ का ऋषि कहता है **'यजमानो वा एषः निदादेन यत् यूपः'** शत. ३/६/४

**३. संज्ञपनम्** – 'णिजन्त ज्ञा अवबोधने' धातु से पुगागम तथा ल्युट् होकर संज्ञपन शब्द सिद्ध होता है। जिसका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ सम्यक् ज्ञान ही हो सकता है। मारना अर्थ कहाँ से आया ? **त एव प्रष्टव्या** उनसे ही पूछना चाहिए।

**४. आलम्भनम्** – 'प्राप्त्यर्थक आङ् पूर्वक लभ्' धातु से ल्युडन्त में आलम्भन शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ भाष्यकार ने प्रकरणानुसार स्पर्श ही किया है। किन्तु पशुयागवादी हिंसा अर्थ में विनियोग कहते हैं।

**५. अवदानम्** – दोऽव खण्डने, डुदाञ् दाने, तथा देङ् रक्षणे धातुओं से अवदान शब्द सिद्ध होता है। जहाँ देङ् रक्षणे अपेक्षित है वहाँ दोऽव खण्डने से अवद्यति इति अवदानम् करके अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं जो कि भगवती श्रुति के आशय के विरुद्ध है।

**६. गोघ्न** – 'हन् हिंसा गत्योः' हिंसा और गत्यर्थक हन् धातु से सम्प्रदान कारक में गोघ्न शब्द निपातित होता है। 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' अ. ३.४.७३ **'गतेस्त्रयोअर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च'। गोघ्नोऽतिथिः** का अर्थ होता है 'गां अस्मै हन्यते' अर्थात् जिस अतिथि के आने पर उसको गाय का दूध आदि पहुँचाया जाए। क्योंकि निरुक्त में आया है - अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवत् निगमाः भवन्ति 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्।' गो पद में तद्धित प्रत्यय से पूरे शब्द की तरह प्रयोग होते हैं अर्थात् जो तद्धित प्रत्यय करने से अर्थ होता है वह बिना प्रत्यय किये ही केवल गो शब्द से द्योतित हो जाता है। गाय का दूध भी गो से अभिहित होता है। अतः यहाँ गोघ्नः का अन्यथा अर्थ नहीं समझना चाहिए।

इस प्रकार हमने देखा कि वैदिक वाङ्मय में कहीं पर भी पशुहिंसा प्रतिपादित नहीं हुई है। फिर भी भारत वर्ष का दुर्भाग्य समझें या वैदेशिक आक्रान्ताओं का कुचक्र समझें, पशुयागवादियों ने वेदशास्त्रों पर आक्रमण कर भारतवर्ष में अपना वर्चस्व जमा लिया। जिनसे विव्रत होकर तथा पशुओं के करुण आर्त्तनाद से व्यथित होकर शाक्य मुनि महात्मा बुद्ध ने वेदों का सहारा छोड़ दिया और भूतदया का पुनरूद्धार मात्र चाहा। किन्तु महर्षि दयानन्द स्वामी ने वेदों की रक्षा के साथ पशुओं की भी रक्षा का बेड़ा उठाया। पशुओं की रक्षा मात्र से केवल कवि जयदेव दशावतार में महात्मा बुद्ध का यशोगान किया -

**'निन्दसि यज्ञविधेरहह ! श्रुतिजातम्**
**सदयहृदय-दर्शितपशुघातम् !**
**केशवधृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे।'**

किन्तु जिस स्वामी दयानन्द ने वेदों के साथ पशुओं की भी रक्षा की उसका यशोगान किसमें और कैसे किया जाएगा? वह तो वाणी से परे है।

**ए ऋषिराज ! तेरी जय हो।**
**अनादिनिधना भगवती श्रुति की जय हो**
**निरपराध पशुसमजों की जय हो**
**रक्षिताः पशवस्तेन मुनिना श्रुतिघातिना।**
**जुगोप यतिराजस्तु पशूनपि श्रुतीरपि॥**
**रक्षिता जीवलोकस्य ब्रह्मकोशस्य रक्षिता।**
**जयताद्दषिराजो हि धर्मस्य परिरक्षिता॥**

# यजुर्वेद और सौत्रामणी

–आचार्या नन्दिता शास्त्री
पाणिनि कन्या महाविद्यालय, वाराणसी १०.

## यजुर्वेद और यज्ञ

यजुर्वेद और यज्ञ का बहुत सहज सम्बन्ध है। यजुर्वेद की **यजुर्यजतेः** इस व्युत्पत्ति से यह बात सर्वथा स्पष्ट है। क्योकि जिस यज धातु से यज्ञ शब्द बनता है उसी यज धातु से यह यजु शब्द बनता है। यज्ञ क्या है? यजुर्वेद से इसका क्या सम्बन्ध है ? इसका स्पष्ट विवेचन याज्ञवल्क्य ऋषि ने शतपथब्राह्मण में **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** इस छोटे से वाक्य में कर दिया है कि यज्ञ नाम है श्रेष्ठतम कर्म का और उस श्रेष्ठतम कर्म का प्रतिपादन जिस वेद में किया गया हो वह है यजुर्वेद।

**देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।** वह सविता देव हमें श्रेष्ठतम कर्म करने के लिये प्रेरित करे यजुर्वेद के इस प्रथम मन्त्र से ही यह आशय सुस्पष्ट हो जाता है। इसी के साथ वह सार्वभौमिक सामाजिक यज्ञ आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक किसी भी स्तर पर हो बिना गाय के उसके दूध के असम्भव है यह भी इसी मन्त्र (यजु. १-१) में आप्यायध्वमघ्न्याः इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वः स्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गौपतौ स्यात बह्वीर्यज-मानस्य पशून् पाहि।

अर्थात् हमारे इस जीवन यज्ञ को सुसम्पादित करने वाली ये अघ्न्या गौयें खूब फलें फूलें, साथ ही वे उत्तम सन्तान वाली अमीवा यक्ष्मादि रोग से रहित हों, कोई चोर पापी उनका स्वामी न बने, हमारे यजमान गोपति बनें, उनके पशुओं की रक्षा हो आदि की गई प्रार्थना से सुस्पष्ट है।

## यजुर्वेद और हिंसा

इस यजुर्वेद का अपर नाम अध्वर्यु वेद भी इसी आधार पर रखा गया है कि यज्ञ की आधारभूत ये गायें यदि अघ्न्या (अहन्तव्या) हैं तो उससे सम्पादित होने वाला यज्ञ भी तो अध्वर हिंसा रहित होगा ही और **अध्वरं यज्ञं युनक्ति**

**यः स अध्वर्युः** जो उस हिंसा रहित अध्वर यज्ञ को जोड़ने का कार्य करता है यज्ञ के उस सदस्य का नाम अध्वर्यु है। और उस अध्वर्यु के कर्म का प्रतिपादन यजुर्वेद में है यह सायणाचार्य जी के ऋग्वेद भाष्य के आरम्भिक श्लोकों में -

**आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।**
**यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते॥**

अर्थात् यज्ञों में अध्वर्यु सम्बन्धी कर्म की प्रधानता होने से यजुर्वेद का भाष्य मैंने पहले किया है अनन्तर होता सम्बन्धी कर्म के प्रतिपादक ऋग्वेद का भाष्य, अब मैं करने जा रहा हूँ इस कथन से स्पष्ट है। इस प्रकार यज्ञ के लिये प्रयुक्त अध्वर-अध्वर्यु इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि यज्ञों में हिंसा का विधान मानना कथमपि युक्त नहीं है। **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** यह मान कर वेदों में हिंसा का विधान करना गोमेध अश्वमेध नरमेध आदि यज्ञों में गाय, घोड़ा, बकरा, भेड़, मनुष्य आदि के बलि का विधान और यज्ञान्त में उसके प्रसाद का वितरण आदि सर्वथा वेदविरुद्ध और असंगत ही कहा जायेगा।

### यजुर्वेद के भाष्यकार

यजुर्वेद के भाष्यकर उव्वट महीधर सायणाचार्यादि जिन्होंने अपने भाष्य के माध्यम से वेदों में पशु हिंसा, सुरा पान, अश्लीलतादि का वर्णन है इस बात को प्रचारित किया ऐसे लोग समाज के घोर शत्रु और पापी थे आज जनसमाज को यह बताना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। क्योंकि आज भी हमारे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में इन्हीं के भाष्य रखे हुए हैं और इन्हीं का पठन-पाठन सर्वत्र किया जाता है जिसके कारण आज विश्वविद्यालयों से पढ़कर निकलने वाले छात्र वेदों के प्रति आस्थावान् न बनकर उनसे घृणा करने लगते हैं उनके मस्तिष्क में उभरे ये प्रश्न उन्हें बेचैन कर देते हैं कि क्या यही वेद ईश्वरीय वाणी है? क्या यही वेद समाज के दिशा निर्देशक हैं? क्या इन्हीं के लिये **सर्वज्ञानमयो हि सः** कहा है? क्या इन्हीं को पढ़ने के लिये- **ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च** कहा है? क्या इन्हीं की रक्षा के लिये **रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्** व्याकरण पढ़ना आवश्यक

बताया है? जहाँ घोर हिंसा के साथ-साथ अत्यन्त अश्लील हरकतें याज्ञिक सदस्यों द्वारा करने का विधान है। क्या फिर भी आर्यावर्त देश के निवासियों का चरित्र विश्व में गुण गान करने योग्य है? क्या फिर भी इस भारत देश को यहाँ के ऋषियों को विश्व का गुरु कहा जाना चाहिये? धिक्कार है।

जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। इन भाष्यकारों के समय में वाममार्ग का प्रचार बढ़ा हुआ था, ये भाष्यकार भी उससे प्रभावित हुए इन्होंने यद्यपि व्याकरण पढ़ा हुआ था शास्त्र पढ़ा हुआ था किन्तु इनके पास आर्ष दृष्टि का अभाव था इनकी दृष्टि पञ्चमकारीय वाममार्गी दृष्टि थी जिसमें मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन इनको मोक्षदा कहा गया है और उस मोक्ष का विधायक यह वेद है यह सिद्ध करते हुए ज्ञापित करते हुए संभवतः इन्होंने स्वयं को गौरवान्वित समझा होगा तथा वेदों को अति उत्तम कोटि में हम प्रतिष्ठित कर रहे हैं यह इनका विचार रहा होगा किन्तु यह अत्यन्त गर्हित कार्य था जिसने समाज को दिग्भ्रमित करने का कार्य किया।

**यज्ञ और सुरा**

वस्तुतः वेदों में आये सुरा आदि शब्दों का अर्थ भिन्न ही था। ब्राह्मण ग्रन्थों में **सोमो वै पयः अन्नं सुरा** (श.ब्रा. १२/३/८) अन्न को सुरा अर्थात् बल प्राण को धारण कराने वाला, ओज तेज का ऐश्वर्य का स्थापक कहा गया है। षुर ऐश्वर्य दीप्त्योः धातु से यह सुरा शब्द सिद्ध होता है। दूध को वेद में सोम कहा है। इसलिये वेद में आये **सुरया सोमः सुतः** का अर्थ होगा अन्न के साथ तैयार किया गया जो दूध अर्थात् खीर दलिया लप्सी आदि। इस सोम को यद्यपि **सुत आसुतो मदाय** यजु. १९/५ यह मद का जनक है कहा है किन्तु मद का अर्थ प्रसन्नता (मदी हर्षे) और तृप्ति (मदी तृप्ति योगे) है जो कि दूध, खीर आदि के सेवन से प्राप्त होती है यह स्पष्ट है।

स्वयं यजुर्वेद (१९/२१-२२-२३) में **धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयो दधि। सोमस्य रूपं हविष आमिक्षा वाजिनं मधु।** (यजु. १९/२१) अर्थात् धान, करम्भ[१]=जौ, सक्तु, परीवाप=गोधूम, दूध, दही, घी आदि ये सब सोम के रूप हैं कहा है तथा आमिक्षा अर्थात् दूध का छेना तथा

वाजिन उस छेने का पानी और मधु ये हवि का रूप बताया है। फिर इनका भी विकल्प इन्हीं मन्त्रों में अन्न के रूप में बता दिया कि यदि दूध न हो तो जौ, दही न हो तो कर्कन्धु अर्थात् जंगली बेर, सोम के स्थान पर छेने का पानी, चरु के स्थान पर आमिक्षा अर्थात् छेना[२], धान का रूप है कुवल अर्थात् स्थूल बदर मोटे बेर, परीवाप का रूप है गोधूम गेहूँ, सत्तू का रूप है बदर करम्भ (पव) का रूप है उपवाक अर्थात् इन्द्रयव इन्द्रजौ इनका यज्ञ में प्रयोग करें इनकी आहुतियाँ दें। वहाँ कहीं भी मद्य मांसादि का हवि के रूप में विधान मन्त्रों में नहीं है।

**सौत्रामणी याग और सुरा**

सौत्रामणी याग में सुरापान का विधान माना गया। **सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्** यह ब्राह्मण ग्रन्थों का वचन है। यजुर्वेद के १९,२०,२१ इन तीन अध्यायों में इसका विधान है इस याग का प्रधान देवता सुत्रामा इन्द्र है। राज्य से च्युत राजा तथा पशु की कामना करने वाले के द्वारा यह यज्ञ किया जाता है। **राज्यच्युत-नृपस्य पशुकामस्य च सौत्रामणी यागः** यह महीधर ने इस १९वें अध्याय के आरम्भ में लिखा है। सुत्रामा इन्द्र अर्थात् राजा से यह अपेक्षा की जाती है कि वह प्रजाननों की रक्षा करे तथा दुष्टों का विनाश करे।

**इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।**
**बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतमः स्याम॥**

यजु. २०/५१

इस यजुर्वेद के मन्त्र में यही कहा है कि सुत्रामा इन्द्र अपने रक्षा साधनों से सबके धन समृद्धि की रक्षा करता हुआ सबके लिये सुखकारी हो वह दुष्ट आततायी शत्रुओं का विनाश कर राज्य में अभय स्थापित करे जिससे प्रजाजन सुवीर्य के स्वामी बनें। उस सुत्रामा इन्द्र सम्बन्धी **सुत्राम्ण इयं** जो इष्टि या याग उसका नाम है सौत्रामणी। इस अध्याय के ब्राह्मण भाग (शत.ब्रा. १२/६/३/१६) में लिखा है **सोमो वै पयोग्रहाः अन्नं सुराग्रहाः यत्पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते सोमपीथं चैव अन्नाद्यं चावरुन्धे** अर्थात् सौत्रामणी याग में जिनमें सोम का प्रयोग होता है उन्हें पयोग्रह कहा जाता है तथा जिसमें

अन्न का प्रयोग चावल गेहूँ आदि के माँड़ खीर लप्सी आदि के रूप में किया जाता है उन्हें सुराग्रह कहा जाता है। यही सोम के सुत निचोड़कर तैयार किया गया पेय पदार्थ, **असुत** बिना निचोड़े तैयार किया गया पदार्थ दो रूप हैं। पयोग्रह सुत कहे जाते हैं तथा सुराग्रह अन्न से निष्पन्न होने के कारण असुत कहे जाते हैं सोम के इन दोनों रूपों का प्रयोग इस सौत्रामणी याग में होता है।

**सौत्रामणी याग के देवता और पशु**

किञ्च सौत्रामणी याग में तीन देवताओं का विशेष महत्त्व है जिनके लिये पृथक् पृथक् पशु का विधान है। तद्यथा-**प्रथम**-अश्वी देवता है जिसके लिये छाग पशु का विधान है। लौकिक संस्कृत में छाग का अर्थ बकरा होता है इसलिये अश्वी देवता के लिये बकरे की बलि का विधान मान लिया गया। **द्वितीय**-सरस्वती देवता के लिये मेष पशु, मेष का अर्थ लोक में भेड़ होता है। इसी प्रकार **तृतीय**-इन्द्र देवता के लिये ऋषभ पशु। ऋषभ का अर्थ लोक में सांड़, बैल अथवा गाय होता है। इस प्रकार इस सौत्रामणी याग में इन तीन देवताओं के लिये क्रमशः बकरा, भेड़ और बैल की बलि का विधान मान लिया गया। जबकि इन लौकिक ग्राम्य पशुओं के साथ इस याग का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

वस्तुतः यज्ञों की कल्पना सृष्टि रचना को, काल चक्र को, अहोरात्र दिन-रात को, पक्ष-मास, वर्ष-ऋतु इन सबको समझाने व इन्हें भली भाँति ईश्वर की व्यवस्था नियमानुसार कार्य करने में सक्षम बनाये रखने के लिये किया गया है। इन यज्ञों में जिन भी वस्तुओं, पशुओं, देवताओं, द्रव्यों का विधान किया जाता है उनका इस लोक के साथ प्रकृति के साथ किसी न किसी रूप में साम्य अवश्य होता है। वह साम्य नाम रूप गुण कर्म किसी भी दृष्टि से हो सकता है।

जैसाकि सौत्रामणी याग में इन तीनों देवताओं और पशुओं का तीनों लोकों व सवनों के साथ सम्बन्ध बताया है। प्रथम-अश्वि देवता जिसमें अज पशु का विधान है उसका सम्बन्ध प्रातः सवन तथा पृथिवी लोक के साथ है।

द्वितीय-सरस्वति देवता और उसके लिये विहित मेष पशु का सम्बन्ध द्वितीय सवन[३] व अन्तरिक्ष लोक के साथ दर्शाया है। तृतीय-इन्द्र देवता ऋषभ पशु का सम्बन्ध माध्यन्दिन सवन व द्युलोक के साथ है यह बताया है। जिसका स्पष्ट विवेचन हम शतपथ ब्राह्मण (१२/८/२/३२) में देख सकते हैं। यही नहीं इन यज्ञों का प्रभाव प्रकृति पर पर्यावरण पर ऋतुचक्र पर भी पड़ता है। जैसे कि इस याग में प्रत्येक देवता के दो दो ग्रह हैं (जिनमें १ पयोग्रह होगा दूसरा सुराग्रह) यानी कुल मिलाकर छः ग्रह। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है-आश्विन दो ग्रहों से बसन्त और ग्रीष्म, सारस्वत दो ग्रहों से वर्षा और शरद् तथा ऐन्द्र दो ग्रहों से हेमन्त और शिशिर ऋतु को याज्ञिक जीतता व प्राप्त करता है (वसन्त ग्रीष्मावश्विनाम्भां वर्षा शरदौ सारस्वताभ्यां हेमन्तशिरा-वैन्डाभ्यां यथारूपमेव यथादेवतमृतून यजति .... । श. १२/८/२/३३) अस्तु अब इन देवताओं का इन पशुओं लोकों सवनों व ऋतुओं के साथ क्या सम्बन्ध व साम्य है यह भी समझ लेना चाहिये।

**प्रथम**-अश्वी देवता का सम्बन्ध प्रातः सवन के साथ है क्योकि आश्विनकाल प्रातः ब्राह्म मुहूर्त्त का नाम है इसमें अश्वी देवता के लिये धूम्रवर्ण बाले अज का प्रयोग **आश्विनो अजो धूम्रः** (का.क्षौ. १९/३/१) इस वैदिक आदेश के अनुसार किया जाता है इसमें भी कुछ रहस्य है वहाँ काले बकरे का प्रयोग नहीं होता अपितु धूयें के रंग वाले बकरे का ही प्रयोग होता है। धूम्र वह वर्ण है जिसमें पूरी सफेदी नहीं होती और पूर्ण रूप से वह काला भी नहीं होता अपितु दोनों का मिला जुला रूप वहाँ रहता है। कारण अश्वी देवता का जो काल है उस समय धरती पर रात्रि की कालिमा भी होती है और द्युलोक से प्रकाश भी अवतरित होता रहता है अतः उस काल का सही प्रतिरूपक धूम्रवर्ण का अज पशु ही हो सकता है। यह अश्विनौ देवता पृथिवी स्थानीय है जिसमें पृथिवी तथा द्युलोक दोनों की आभा एक साथ अर्धरात्रि के बाद देखी जा सकती है। इसीलिये इसका द्विवचन में प्रयोग होता है। निरुक्त में-अरि... द्यावा पृथिव्यौ कहा है।

**द्वितीय**–सरस्वती देवता है यह माध्यन्दिन है मध्यस्थानीय कहा है। जो कि विद्युत् के रूप में वाक् के रूप में अन्तरिक्ष में आकाश में व्याप्त होती है इसका पशु मेष अर्थात् भेड़ है इसका रूपात्मक सम्बन्ध अन्तरिक्ष लोक के साथ है। जैसे भेड़ के बाल रुई की तरह नरम गुच्छे-गुच्छे गुदगुदे होते हैं तद्वत् मेघ के रज:कण से अन्तरिक्ष लोक व्याप्त रहता है इस मनोहर अद्भुत दृश्य का आनन्द हम सब विमान यात्रा के समय अपनी आँखों से प्रत्यक्ष रूप से लेते हैं जिसमें मेघों की विभिन्न आकृतियाँ रुई के पहाड़ की तरह भेड़ के सफेद नरम बाल की तरह दिखाई देती हैं। इसलिये इस सरस्वती देवता का मेष के साथ अन्तरिक्ष के साथ इसी रूप में सम्बन्ध कल्पित किया गया यह कह सकते हैं। इसका सम्बन्ध तृतीय सवन के साथ है जब सूर्य की किरणें मध्य आकाश में न होकर एक तरफ हो जाती हैं जिससे गगन का मेघ का यह नजारा बड़ी आसानी से सब देख सकते हैं[४]। इसी प्रकार इन्द्र देवता का सम्बन्ध ऋषभ पशु के साथ है। ऋषभ अर्थात् सांड़ उत्पत्ति का सृष्टि का प्रतीक माना जा सकता है इस रूप में इसका इन्द्र अर्थात् सूर्य के द्युलोक के साथ सम्बन्ध होना स्पष्ट है क्योंकि सविता (प्रसविता) सूर्य का भी यही कर्म है। ऋषभ बैल तेज का बल का भी प्रतीक है और सूर्य के तेज के सामने किसी का सामर्थ्य नही है जो टिक सके। इस प्रकार इन तीनों देवताओं का सवनों लोकों व पशुओं के साथ सम्बन्ध के साथ सम्बन्ध व प्रयोग किसी सादृश्य से है निमित्त से है यह स्पष्ट है।

यही नहीं इन अश्वी सरस्वती तथा इन्द्र देवता को वेद में भिषक् अर्थात् चिकित्सक भी कहा है क्योंकि ये तीनों लोकों के प्राणिमात्र के जीवन के चिकित्सक हैं। अश्वी काल का अश्वी देवता का सीधा प्रभाव पृथिवी लोक के सभी प्राणियों पर एक चिकित्सक के रूप में देखा व अनुभव किया जा सकता है। जो इसके अन्तर्निहित गूढार्थ को समझते हैं और योगियों जैसा जीवन ब्राह्म मुहूर्त्त में निद्रा त्याग कर जीते हैं वे इसके प्रभाव को पूर्णतया समझते हैं ऐसे लोगों के लिये ही वेद में **उषर्बुधः** शब्द का प्रयोग आता है जबकि इसके विरुद्ध आचरण करने वालों को वेद में **जराबोध** शब्द से सम्बोधित किया

है। द्वितीय-इन्द्र देवता सूर्य भी अपनी किरणों के माध्यम से तीनों लोकों के चिकित्सक स्वयं सिद्ध हैं। इस इन्द्र देवता का सम्बन्ध माध्यदिन सवन के साथ है (**इन्द्रेणैन्द्रं माध्यन्दिनं सवनम्** यजु. १९) क्योंकि सूर्य की प्रखरता का उसके सम्पूर्ण अस्तित्व का बोध तो मध्याह्नकाल में ही होता है। इसी प्रकार सरस्वती वाग् देवता जहाँ हमारे वाङ्मल वाणी के दोष की चिकित्सिका है वहीं विद्युत् के रूप में अन्तरिक्षस्थ उड़ने वाले पक्षियों कीट-पतंगों की भी अपनी चमक व गरज से वह चिकित्सा करती है। इनका ऋतुओं के साथ भी सम्बन्ध स्पष्ट है। प्रतिदिन प्रकृति में क्रमशः वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरद् हेमन्त शिशिर ऋतु आती है यह हम कह सकते हैं तद्यथा प्रातःकालीन वेला वसन्त ऋतु के समान है जिसमें सर्वत्र आह्लाद है नई ताजगी का अहसास है उसके बाद धीरे धीरे गर्मी बढ़ती है और प्रचण्ड गर्मी कां परिणाम होता है वर्षा शाम होते होते फिर समशीतोष्ण शरद् ऋतु की तरह मौसम अनुकूल हो जाता है और रात्रि में फिर ठण्ड बढ़ जाती है हेमन्त शिशिर ऋतु को माध्यन्दिन सवन के द्वारा वर्षा शरद् ऋतु की तथा तृतीय सवन के द्वारा हेमन्त शिशिर ऋतु को यजमान जीतता व प्राप्त करता है।

अब यज्ञ में जहाँ इन पशुओं के वपा मेदस् के आहुतियों की बात आती है उनके पार्श्व श्रोणि शिताम आदि अङ्ग-अङ्ग को काट कर आहुति देने का विधान है उसका भी तात्पर्य है। वस्तुतः नाम रूप गुण साम्य से वहाँ तत्तत् नाम वाले पशुओं का नहीं अपितु तत्तत् नाम वाली ओषधियों का ही ग्रहण है। तद्यथा-अश्वि देवता के लिये छाग अर्थात् अज यानी बकरा नहीं अपितु अजमोद नामक ओषधि का वहाँ विधान है इसी प्रकार सरस्वती देवता के लिये मेषअर्थात् भेड़ नहीं अपितु आयुर्वेद में वर्णित मेढासिंगी ओषधि का विधान है इसी प्रकार इन्द्र देवता के लिये ऋषभ अर्थात् सांड़ नहीं अपितु ऋषभक ओषधि की उपयोगिता बताई गई है यह कहा जा सकता है। इन ओषधियों का मूल भाग, ऊपरी भाग, अन्दर का मांस समान नरम गूदा भाग तथा मेदस् समान कठोर भाग, हड्डी के समान अत्यन्त कठोर तना भाग इनका पृथक् पृथक् लाभ होने से यज्ञ में उनकी आहुति प्रसाद देने का विधान है

जिसका ज्ञान सौत्रामणी याग करने वाले को होना आवश्यक है तभी वह उसका पूरा लाभ उठा सकता है। इसीलिये वेद में बारबार इनके देवता अश्वी आदि के लिये भिषक् भेषज शब्दों का मन्त्रों में उच्चारण किया है कि इनका प्रयोग करने वाले ये देव मानों हमारे चिकित्सक हैं। तद्यथा-होता यक्षद्बर्हिरूर्णम्म्रदा भिषङ्नासत्या भिषजाऽश्विनाऽश्वा शिशुमती भिषग्धेनुः सरस्वती भिषग्दुह इन्द्राय भेषजं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ (यजु. २१/३३) इस मन्त्र में नासत्यौ नासिकाप्रभवौ प्राणापानौ भिषजौ अश्विनौ कहा है अर्थात् नासिका से उत्पन्न जो प्राण अपान नामक अश्वी देवता युगल वे हम प्राणियां के चिकित्सक हैं तथा गोदुग्ध के समान कल्याणकारिणी सरस्वती हमारी चिकित्सिका है यहाँ भिषग् धेनुः गाय को तथा भेषजं पयः गाय के दूध को तथा भिषग्दुहे उसके दोहन के लिये भी भिषक् शब्द का प्रयोग आरोग्य दायक अर्थ में किया है।

सबसे बड़ी बात यह याग या इष्टि पशु की प्राप्ति के लिये किया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र में अलम्पशोरपशोः (का.श्रौ. १९/१/४) कहा है अर्थात् जो पशुओं के भरण पोषण में समर्थ होने से पशुप्राप्तियोग है अथवा पशुहीन है उसके द्वारा कर्त्तव्य बताया है यदि इन यागों में उनकी हिंसा का कहीं से विधान माना जायेगा तो यह अपने उद्देश्य से विपरीत होगा। वस्तुतः जैसा कि स्वयं यजुर्वेद में कहा है अग्निः पशुरासीत् .... सूर्यः पशुरासीत्.... वायुः पशुरासीत् अर्थात् तीनों लोकों के क्रमशः अग्नि वायु सूर्य पृथिवी अन्तरिक्ष द्युलोक के पशु थे, है और रहेंगे इन्हीं के प्रतीक गौ अश्व अज अवि आदि हैं पृथिवी लोक के दिग्दर्शन के लिये गौ को प्रतीक माना जाता है सूर्य का प्रतीक अश्व है इसी प्रकार अन्यों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। इसीलिये यज्ञों में पिष्ट पशु पुरोडाश का भी विधान है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं यज्ञों में पशुहिंसा का विधान मानना कथमपि उचित नहीं है। इस युग में यदि महर्षि दयानन्द न आते तो यह आर्ष वैदिक दृष्टि कहीं विलुप्त हो जाती और हम शास्त्रीय रूप से वाममार्गी बन

जाते इसमें सन्देह नहीं है।

## सौत्रामणी याग में प्रयुक्त देवता पशु आदि का विवरण

| देवता | सवन | काल | पशु | लोक | ऋतु | औषधि | वृक्ष |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अश्विनौ | प्रातःसवन | प्रातःकाल | छाग (बकरा) | पृथिवी | वसन्त-ग्रीष्म | शब्द (नवाङ्कुरित व्रीहि) | अश्वत्थ (पीपल) |
| सरस्वती | माध्यन्दिन (यजुर्वेद में सरस्वती को तृतीय सवन का देवता माना है) | मध्याह्न | भेष (भेड़) | अन्तरिक्ष | वर्षा-शरद | लाजा (धान का लावा) | उदुम्बर (गूलर) |
| इन्द्र | तृतीय (यजुर्वेद में इन्द्र को माध्यन्दिन सवन का देवता माना है) | सायम् | वृषभ (सांड़-बैल) | द्युलोक | हेमन्त शिशिर | तोक्म (नवाङ्कुरित मव) | न्यग्रोध (वटवृक्ष) |

१. उपवाका: (पवा:) करम्भस्प-यजु १९/२२ करम्भा: यवविकारा:। परीवापो गोधूम: परीवापस्य गोधूमा:-यजु. १९/२२ ... संहिता सायणभाष्य।

२. पयसो रूपं यद्यवा दघ्नो रूपं कर्कन्धूनि। सोमस्य रूपं वाजिनं सौम्यस्य रूपमभिक्षा। यजु. १९/२३

धानानां रूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमा:। सक्तूनां रूपं बदरमुपवाका: करभ्मस्य। यजु. १९/२२

३. यजुर्वेद में (अश्विम्भां प्रात: सवनमिन्द्रणैन्द्रं माध्यन्दिनम्। वैश्वदेवं सरस्वत्या तृतीयमाप्तं सवनम् (यजु. १९/२६) इन्द्र को माध्यन्दिन सवन का देवता माना है सरस्वती को तृतीय जबकि शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र को तीसरे सवन तथा सरस्वती को माध्यन्दिन सवन का देवता माना है। मेरे विचार से वेद को यहाँ प्रमाण मानना चाहिए, ब्राह्मण को नहीं।)

४. इममेम लोकमश्विने नान्तरिक्षं सारस्वतेन दिवमैन्द्रेण...। (शतपथ ब्राह्मण १४/२)

# पुरुष-सूक्त-समीक्षा

– प्रो. विमला आर्या

यजुर्वेद का ३१ वाँ अध्याय सृष्टि-रचना की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस अध्याय में २२ मंत्र हैं। सभी मंत्रों के द्रष्टा 'नारायण' नाम के ऋषि हैं, 'देवता' पुरुष है, इसीलिए इस अध्याय को 'पुरुषाध्याय' या 'पुरुष-सूक्त' कहा गया है। पुरुष शब्द जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस 'पुरुष' का शाब्दिक अर्थ 'पुरी' अर्थात् (शरीर) में शयन करने वाला। अथर्ववेद में 'अष्टचक्रा नवद्वारा वाली देवताओं की अयोध्या पुरी का वर्णन मिलता है[1]। यह अयोध्या हमारा शरीर है, हमारा शरीर भी एक पुरी है इसका अधिष्ठाता 'जीवात्मा' पुरुष है। इस ब्रह्माण्ड रूपी पुरी के कण-कण में विद्यमान अजन्मा, सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता, ब्रह्म, परमात्मा ही पुरुष है। सृष्टि का निर्माण करने वाला पुरुष परमात्मा मानवशरीर में रहने वाला पुरुष-जीवात्मा से भिन्न है। भगवत गीता (१५.१७) में 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' परमात्मा को पुरुषोत्तम कहा गया है, जो जीवात्मा से भिन्न है। यही पुरुष सृष्टि का निर्माण करता है। 'सृष्टि-विद्या' के नाम से भी यह सूक्त प्रसिद्ध है।

पुरुष-सूक्त की सृष्टि-प्रक्रिया पर विचार करने से पूर्व सृष्टि के मूल तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक है। ऋग्वेद के मंत्र में सृष्टि के तीन अनादि तत्त्वों का वर्णन है; जिसके मेल से सृष्टि बनती है। मंत्र का भाव है कि दो पक्षी एक वृक्ष पर मित्रभाव से रहते हैं। इसमें एक मित्र उस वृक्ष के फलों को खाता है, सुख-दुख का भोक्ता है और दूसरा इससे भिन्न, फलों को न खाता हुआ केवल देखता है, साक्षी बना रहता है[2]। इस मंत्र में परमेश्वर, जीव और प्रकृति का वर्णन है। ये तीनों अनादि हैं, सृष्टि निर्माण के तीनों

कारण हैं। सृष्टि-उत्पति प्रक्रिया में परमेश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप पर भी विचार करना होगा।

यजुर्वेद के एक मंत्र में परमेश्वर को सब भूतों, लोकों और सभी दिशा-प्रदिशाओं को सभी तरह से व्याप्त करके सत्य और अनादि आत्मा में भी प्रवेश किये हुए, बतलाया गया है[३]। वेद के अन्य मंत्रों में जीव को असंख्य, जन्म मृत्यु को धारण करने वाला, सनातन, अल्पज्ञ, मोक्ष का अधिकारी कहा गया है। ये सनातन जीव उस व्यापक परमात्मा में सौ, हजार, दस हजार, दस करोड़ और उससे भी अधिक संख्या में भरे रहते हैं। जब ये जीव सर्वव्यापक, सर्वज्ञ परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं तो सभी के प्रिय हो जाते हैं। जीव को कभी स्त्री, कभी पुरुष, कभी कुमार, कभी कुमारी, कभी वृद्धावस्था में दण्ड के सहारे चलने वाला बतलाया गया है[४]। सृष्टि-निर्माण का एक प्रधान कारण जीवों का कर्म भी है। जीव अनादि काल से कर्म करते आ रहे हैं। प्रलय के बाद जब नयी सृष्टि की उत्पति होती है, सूर्य, चन्द्र आदि बनाने के बाद पृथिवी जब जीवों के रहने योग्य बन जाती है, तब परमात्मा जीवों के शेष कर्म को भोगने के लिए विभिन्न योनियों को उत्पन्न करता है। उक्त लक्षण जीवों के हैं। जीव भी सृष्टि निर्माण में कारण है।

प्रकृति का वर्णन करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है कि अदिति ही द्यौ है, अदिति ही अन्तरिक्ष हे, अदिति ही माता है, अदिति ही पुत्र है, अदिति ही विश्व का देवता है, अदिति ही पञ्चजन-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अनार्य हैं अदिति पैदा करने वाली भी है, पैदा होने वाली भी है। मंत्र में अदिति सृष्टि का विशाल माया-प्रपञ्च है, जिसे प्राकृतिक प्रपञ्च माना गया है। परमेश्वर जीवों के कर्मों के अनुसार, उसके सुख-दुख को भोगने के लिए अदिति अर्थात् प्रकृति के विशाल घेरे में डालकर ब्रह्माण्ड में कर्मफल

भोगने के लिए छोड़ देता है। सृष्टि के विभिन्न रूपों वाले पदार्थ जिसे प्रकृति कहते हैं इसी में उत्पन्न होते हैं इसी से बनते-बिगड़ते हैं, इसी को सृष्टि की उत्पति कहते हैं। यह प्रकृति भी सृष्टि निर्माण का कारण है।

परमेश्वर, जीव, प्रकृति इन तीनों पदार्थों में एक भी ऐसा नहीं है जो अकेला इस सृष्टि को बना दे। सृष्टि निर्माण के लिए तीनों का सहयोग आवश्यक है। सृष्टि निर्माण के लिए सारी स्थिति पहले से मौजूद रहती है, सृष्टि-निर्माण के लिए सर्वज्ञ, सर्वनिर्माता परमात्मा पहले से ही है, असंख्य जीवों की चेतन-शक्तियाँ पहले से ही उसी परमेश्वर से जुड़ी हुई हैं। सभी पदार्थों में गति उत्पन्न करने वाले प्रकृति-परमाणु भी पहले से ही उपस्थित हैं।

नयी सृष्टि उत्पत्ति के लिए सभी पदार्थ पहले से ही मौजूद थे, अतः परमात्मा ने नयी सृष्टि की इच्छा से असंख्य जीवों को उत्प्रेरित किया, इन जीवों ने अपनी इच्छा शक्ति से सम्पूर्ण प्रकृति-परमाणुओं में गति एवं हलचल पैदा कर दी[६]। मनुस्मृति में भी वर्णन मिलता है कि प्रारम्भ में परमात्मा ने सबसे पहले जीवों (मन) को उद्बोधित किया और मन से प्रकृति के परमाणुओं में हलचल गति पैदा हुयी[७]। इससे प्रकृति रूपी घेरा में अंधेरा हो गया, उससे आकाश, वायु, समुद्र, सूर्य, रात, दिन, उत्पन्न हुए। यह सम्भव है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा द्वारा जीवों को उत्प्रेरित करने से इतना वेग, हलचल पैदा हो कि प्रकृति के समस्त परमाणु अत्यन्त वेग से गतिशील हो जाएँ। पञ्च भौतिक तत्वों-पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश में अपने-अपने क्या विशेष कर्म हैं, इसके विषय में वैशेषिक दर्शन में लिखा है कि **'उत्क्षेपणमवक्षे-पमाकुञ्चनं प्रसारणं गमननिति कर्माणि'**। पञ्च भौतिक तत्त्वों में अपने गुणानुसार जब कर्म शुरु हो जाते हैं, तब अग्नि की गति उसके गुणानुसार ऊपर की ओर होने लगती है। जल के उसके

गुणानुसार उसके परमाणु नीचे की ओर ही गमन करते हैं। अग्नि और जल के विरोधी कर्म और गुणानुसार दोनों शक्तियों के संयोग से विशाल गति एवं हलचल प्रकृति में शुरू होती है, ऐसी स्थिति में आकर्षण-गुणयुक्त पृथिवी के परमाणु इस विशाल गति को स्थिर करते हैं। प्रसारण गुण युक्त वायु के परमाणु इस सघन पदार्थ को प्रसारण करते हैं। आकाश के परमाणु इस ठोस पदार्थ को गमन-आगमन के लिए स्थान देते हैं। फलस्वरूप पाञ्चो तत्वों के परमाणु-समूह गोलाकार गति में घूम जाते हैं। अर्थात् पञ्चमहाभूतों के पाञ्चों तत्व अलग-अलग गुण-कर्म प्रकृति के परमाणुओं को चक्राकार गति में गतिशील कर देते हैं। गति से आकर्षण हुआ, जिससे रात्रि के समान एक गतिशील स्थिति उत्पन्न हुयी, यह गम्भीर पदार्थ एक चक्राकार गति में घूमी, यह सघन हुयी, जिससे चारों ओर आकाश उत्पन्न हो गया। इस खाली स्थानरूपी आकाश में वायु उत्पन्न हुआ, वायु से समुद्र, पुनः रात-दिन, नक्षत्र, पृथिवी, मेघ, वर्षा आदि उत्पन्न हुए।

यजुर्वेद के सृष्टि प्रक्रिया में उल्लेख है कि पृषद् नाम के खाने योग्य वनस्पतियाँ उत्पन्न हुयी। उड़ने वाले नभचर उत्पन्न हुए, जंगलों में चरने वाले, गाँवों में रहने वाले पशु उत्पन्न हुए[८]। उसके बाद चारों वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र उत्पन्न हुए[९]। सृष्टि का नियम है कि पहले भोग्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं उसके बाद उसके भोक्ता। पशुओं को खाने के लिए वृक्ष, हरयाली उत्पन्न हो जाते हैं, तब पशु उत्पन्न होते हैं। बाद में मनुष्य की उत्पत्ति होती है। अर्थात् चेतन सृष्टि में पहले वृक्ष, वनस्पतियाँ आदि तत्पश्चात् पशु फिर मनुष्य उत्पन्न हुए।

मनुष्य-योनि के कर्मानुसार देव, ऋषि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र उत्पन्न हुए। मनुष्यों को उसके कर्तव्य एवं जीवन यापन के लिए विविध भौतिक ज्ञान देने के लिए सृष्टि के आदि में परमात्मा ने वेद का ज्ञान

दिया[१०]। सृष्टि के स्थूल-सूक्ष्म अंगों को निर्माण तथा विभिन्न प्राणियों की रचना के बाद, समाज के विभिन्न वर्गों के गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर चारों वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र के कर्तव्यों का बोध के लिए कर्तव्य एवं ज्ञान का निर्देश दिया।

वेद के हजारों मंत्रों में परमेश्वर के स्वरूप एवं कार्य का वर्णन है। परमात्मा की प्राप्ति के उपाय, दर्शन, सम्मेलन एवं उसके साथ तादात्म्य का वर्णन है। प्रकृति के बंधन से छुटकर अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त होकर परमात्मा की प्राप्ति का नाम मोक्ष है। जीव को जब ज्ञात हो जाता है कि सर्व नियन्ता परमात्मा ही मेरा माता-पिता, विधाता है तो उस आनन्द स्वरूप परमेश्वर के साथ शाश्वत सान्निध्य पाने की इच्छा से मोक्ष-पद का गामी बनता है, तो वह अपने ज्ञान, अनुभव से बोल उठता है कि आदित्यतुल्य, सच्चिदानन्द स्वरूप, अज्ञान रूपी अन्धकार से रहित उस दिव्य परमात्मा को मैंने जान लिया है[११]। मुक्ति पाने के लिए परमात्मा का ज्ञान ही एक मात्र रास्ता है।

इस प्रकार यजुर्वेद का ३१ वाँ अध्याय जिसे पुरुष सूक्त या सृष्टि-विद्या के नाम से जाना जाता है, उसकी समीक्षा की गई। २२ मंत्रों में सृष्टि-विद्या के अतीव रहस्यमय गम्भीर विषय को वर्णन कर 'गागर में सागर' भरने का कार्य सूक्त में किया गया है। इस गम्भीर विषय की समीक्षा में वेद के अन्य मंत्रों को भी प्रसंगवश उद्धृत किया गया है।

***संदर्भ :-***

१. ***अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या***
***तस्यां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः। अथ-१०.२.३१***

२. ***द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।***
***तयोन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति। ऋ. १.१६४.२०***

३. परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मना आत्मानमभि सं विवेश । यजु-३१/११

४. सनातनमेनामाहुरूताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रो प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रुपयोः । अथ- १०.८.२३
शतं सहस्त्रामयुतं न्यर्वुदमसंख्येयं स्वस्मिन् निविष्टम् ।
तदस्य हनन्त्यमिपश्यत एवं तस्माद् देवो रोचत एथ एतत् । अथ-१०.८.२४
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं
जातो भवसि विश्वतो मुखः । अथ- १०.८.२७

५. अदिति रन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् । यजु २५/२३

६. यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आवभूव भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी । यजु-३२/५

७. यं तु कर्मणि यस्मिन् स नियुक्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भैजे सृजयमान पुनः पुनः । मनु- १.२-८.
सम्भृतं पृषदाज्यम् । पशुस्तान्श्चक्रे व्यायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये । यजु-३१/६

८. ब्राह्मणो अस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत । यजु- ३१/११

९. तस्मादयज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
धन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तमादजायत - यजु ३१.७

१०. वेदाहमेतत् पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति न्यान्यः पन्था विद्यते अयनाय । युज-३१/१८

# पुरुष सूक्त का विवेचन

- डॉ. प्रियव्रत दास

वेद परमकवि का नित्य काव्य है-**'पश्य देवस्य काव्यम्'** (ऋग्वेद), पुरुष सूक्त इस शाश्वत काव्य का महिमामय अंश है-''तत् सूक्तं पुरुषं दिव्यं दघ्नो घृतमिवोक्तम्'' (लक्ष्मी तंत्र), पुरुष सूक्त का केन्द्र बिन्दु 'पुरुष' है। पुरुष की बहुविध कल्पना इस सूक्त में द्योतित है। **'दशांगुल पुरुष', 'समाज पुरुष', 'विराट् पुरुष', 'सर्वातिशायी पुरुष'** का रहस्यमय संकेत पुरुष सूक्त में प्रकटित हुआ है। 'इदं पुरुष सूक्त' हि सर्ववेदेषु पठ्यते'-चारों वेद में यह सूक्त सन्निविष्ट है। ऋग्वेद दशम मंडलान्तर्गत नवेवां सूक्त में 'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः' से आरंभ होकर 'साध्याः सन्ति देवाः' तक षोडश ऋचात्मक पुरुष सूक्त है, सोलह मंत्रों की देवता पुरुष है, अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के अन्तर्गत छे सूक्त में 'सहस्त्रबाहुः पुरुषः' से आरम्भ होकर 'जातस्य पुरुषादधि' तक षोडश ऋचात्मक मंत्रों की देवता भी पुरुष है, यजुर्वेद के इकतीसवें अध्याय 'पुरुषमेधाध्याय' की मंत्रसंख्या बाईस है, इसमें पुरुष देवतावाले मंत्र सोलह हैं। यही कारण है कि इस अध्याय को पूर्वनारायण एवं उत्तरनारायण दो अनुवाक में बांटा गया है। सामवेद पूर्वार्चिक में 'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः' से 'पश्चाद् भूमिमथो पुरः' तक पंच ऋचात्मक समूह का देवता पुरुष है, यजुर्वेद के पुरुषमेधाध्याय के बाईस मंत्रों में आरंभिक सोलह मंत्र वही हैं जो ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के हैं, अन्तिम छह मंत्र ऋग्वेद में नहीं है। संख्या की दृष्टि से ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त से अथर्ववेदीय सूक्त साम्य रखता है। उपासक परमस्थिति में पहुंचकर साम-संहिता में केवल पांच मंत्रों के क्षेत्र पर सीमित हो जाता है। परवर्त्ती मानुषी रचना महाभारत, भागवत आदि पुरुष-सूक्त का उदात्त विचार इस प्रकार है-

१. **"पुर और पुरुष"** - यजुर्वेदीय पुरुष सूक्त में पुरुष शब्द १० बार प्रयुक्त हुआ है 'पुर' तत्त्व के अस्तित्व से पुरुष-तत्त्व निष्पन्न होता है, **'ततो विराडजायत'** मंत्र का अन्तिम पद **'पुरः'** है, कुछ भाष्यकारों ने **'पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः'** इस प्रकार 'पुर' का अर्थ शरीर किया है जो रस-रक्त आदि सप्त धातुओं से पूर्ण है, किसी पुरुष ने जिस में शयन किया हो यथा ब्रह्माण्ड, पिण्ड, हृदय, नगर, दुर्ग आदि पुर हैं, **'पश्चात् भूमिम् अथो पुरः'** मंत्र में 'भूमि' से ब्रह्माण्ड और 'पुर' से पिण्ड गृहीत होता है, 'पुरः' शब्द से जहां स्वेदज, अण्डज और जरायुज योनियां अभिव्यक्त होते हैं, वहां स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर भी, पुरों (शरीरों) में मनुष्य पुर (शरीर) सर्वोत्तम है। मनुष्य देह की संज्ञा 'देवानां पूः' है। ऐतरेय उपनिषद् में गोपुर, अश्वपुर से मनुष्य-पुर उत्कृष्ट है। मनुष्य-पुर को देखकर देव उछल पड़े और एक साथ बोलें-**'पुरुषो वाव सुकृतम्'**। मानव-देह केवल पुर नहीं, अपितु ब्रह्मपुर भी है, उसे अपराजिता पुः' भी कहा गया है।

२. **"दशांगुलम्"** - पुरुष सूक्त का प्रथम मंत्र में एक गूढ़ दार्शनिक तत्त्व निहित है-'दशांगुलम्'। पुरुष दो हैं-एक सहस्त्रशीर्षाक्षपाद पुरुष (सर्वातिशायी) द्वितीय दशांगुल (एकशयी) पुरुष। इस प्रकार दो पुरुष हैं और दो पुर है। दोनों पुर प्रकृति का विकार है जो **'इदं सर्वम्'** का वाचक है। ब्रह्म चतुष्पाद, जीव द्विपाद और प्रकृति एक पाद, सूक्त में 'दशांगुल' पद से द्विपाद गृहीत होता है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने माना है- The Dashangula Purush is the individual Deva, the manifested person standing on the fingers at the feet. उन्होंने दोनों पावों की दश अंगुलियों को दश अंगुल माना है और उससे उन दश अंगुलों के सहारे दण्डायमान व्यक्ति पुरुष की दशांगुल स्वीकार किया है। सायण, महीधर, शंकराचार्य, दयानन्द सरस्वती आदि 'दशांगुल' शब्द से दशांगुल परिमित

स्थल, ब्रह्माण्ड से बहिर्भूत समस्त अवकाश, हृदयाकाश, नासिकाग्र भाग, व्यक्ति पुरुष, संपूर्ण कार्यजगत्, दश इन्द्रियां, दश अंगुलियां अर्थ माने हैं। दशांगुल के अभिव्यंजित अर्थ दश संख्यात्मक ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां भी है जिनके आश्रय से व्यक्ति पुरुष जीवित रहता है। सर्वातिशायी पुरुष इन्द्रियातीत होकर इनका अतिक्रमण करके वर्तमान है। दशांगुल पंचभूत और पंचतन्मात्र का वाचक भी है। इनमें व्यक्ति पुरुष आबद्ध है। दशांगुल दश दिशाओं का वाचक भी है, दशांगुल पुरुष दिशाबद्ध और सर्वातिशायी पुरुष देशमुक्त।

**३. 'भूमि'** – प्रथम और पंचम मंत्रों में भूमिसूक्त प्रयुक्त हुआ है। पंचम मंत्रगत भूमि दृश्यमान पार्थिव भूमि और प्रथम मंत्रगत भूमि से पंचभूतों के परमाणुओं विकास अवस्था सूचित होता है।

**४. 'विराट्'** – पुरुष सूक्त में 'विराट्' तत्त्व से सृष्टि-प्रक्रिया प्रेरित होती है। सर्वातिशायी पुरुष से विराट् की उत्पत्ति हुई। पुरुष शृंखला में विराट् एक कड़ी है, किसी भी भूखण्ड में ब्राह्मण आदि इकाईयां एकत्र होकर विराट् रूप होगा। ब्रह्माण्ड के द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी रूप क्रमशः शीर्ष, उदर, धरण को एक इकाई मानकर विराट् रूप होगा। ऐसे ही अनन्त विराट् इकाइयों को एक जगह संगृहीत करके सर्वातिशायी पुरुष का रूप होगा।

**५. पुरुष सूक्त और समाज** – जिस प्रकार शरीर के सभी अंग परस्पर सहयोग और सहकारिता से शरीर का संचालन करते हैं, उसी प्रकार के प्रत्येक घटक समाज-संरचना में कार्य करें। मुखवत् कार्य करनेवाला व्यक्ति समाज में ब्राह्मण, भुजाओं की तरह कार्यरत प्रजा क्षत्रिय, जंघा सदृश लक्षणयुक्त प्रजा वैश्य तथा पैरों की तरह सेवारत प्रजा शूद्र होगा। 'ब्राह्मणोऽस्य '-यह द्वादश मंत्र का अभिप्राय है, मुख, बाहु, ऊरु और पाद का विभाजत वैज्ञानिक और दार्शनिक है, समाज-शरीर के अंगीभूत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में से

किसी एक में समस्त शक्ति निहित न होना चाहिये, सीमा निर्धारण से कर्त्तव्य तथा अधिकार का संतुलन बना रहेगा। व्यक्ति पुरुष का लक्ष्यप्राप्ति हेतु मति, कृति, स्थिति और गति अंग-चतुष्टय किले हैं। जहां व्यक्ति-पुरुष के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख हैं, वहां समाज पुरुष के भी अज्ञान, अन्याय एवं अभाव त्रिविध दुःख हैं। प्रजा में कोई मुखवत् ब्राह्मण, कोई बाहुवत् राजन्य और कोई उरुवत् वैश्य बनें जिससे अज्ञान, अन्याय और अभाव रूप त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो सके। त्रिविध दुःखों के अतिरिक्त 'समाज-पुरुष' का एक दुःख और भी है, वह है आलस्य। आलस्य के निवृत्त्यर्थ समाज-पुरुष को पाद् व्यक्ति की आवश्यकता है जो गति एवं तप-रूप अत्यंत पुरुषार्थ द्वारा आलस्य की निवृत्ति कर सके-**तपसे शूद्रम्**।

**६. संवत्सर यज्ञ** - पुरुष-सूक्त में संवत्सर यज्ञ का वर्णन करते समय कहा गया है-**'वसन्तोस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः'**। वसन्त और आज्य का, ग्रीष्म और समिधा का, तथा शरद् और हवि का परस्पर घनिष्ठ संबन्ध है। ऋतुओं में वसन्त की प्राथमिकता है और यज्ञाहुतियों में उसी प्रकार आज्य की प्रधानता है। ग्रीष्म और इध्म दोनों आग्नेय है। घृत सौम्य और इध्म आग्नेय है। वसन्त में जो बोया जाता है। शरद् ऋतु का फल द्रविण है। संवत्सर जिस प्रकार ऋतुओं में बंटा हुआ है, इसी प्रकार मनुष्य को विभिन्न अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है। ऋतुओं को पूर्णता तक पहुंचाना संवत्सर रूप यज्ञ है।

सम्पर्क : १३९, शहीद नगर, भुवनेश्वर
०६७४-२५४८४१०

# वेद शब्द का वैज्ञानिक अर्थ एवं यजुर्वेद की स्थिति

- **आचार्य वेदप्रकाश श्रोत्रिय**, दिल्ली

वेद शब्द का अर्थ ज्ञान, ज्ञान का विषय, ज्ञेय पदार्थ और ज्ञान के साधन तीनों की वाच्य रूप है। इसके अतिरिक्त सत्ता, लाभ और विचारना ये तीन और हैं। विचारना अर्थ को यदि ज्ञान के ही अन्तर्गत मान लें तथा लाभ आनन्द का उत्पादक वा आनन्द का ही एक रूप मान लें तो सत्ता, ज्ञान और आनन्द ये तीनों ब्रह्म के श्रुति प्रतिपादित लक्षण ब्रह्म शब्दार्थ में समा जाते हैं। इससे वेद शब्द ब्रह्म का पर्याय बन जाता है।

सम्प्रति ज्ञान अर्थ को प्राधान्य मानकर विचार करते हैं।

विचार कीजिए-कि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान किस प्रकार होता है ? शास्त्रकारों ने प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया है कि इन्द्रियों से ज्ञेय अर्थों का सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान प्रकट हो, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इस, स्पर्श, गन्ध तथा शब्द गुण जब हमारी रसना, त्वचा, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियों पर पहुँचकर इनसे सम्बद्ध होते हैं, तभी इनका ज्ञान होता है परन्तु रूप की बात इनसे पृथक् है। बहुत दूर की वस्तु का भी रूप हम देखते हैं। वह रूप देखने के समय उस दूरस्थान पर भी बना रहता है। प्रश्न यह उठता है कि बिना आँख से सम्बन्ध हुए हमने उस वस्तु वा उसके रूप या आकार को कैसे देखा। तब कहा जाता है कि सूर्य दीपादि प्रकाशक पदार्थों की भांति आंख से किरणें निकलकर उस वस्तु का स्पर्श करती हैं, तब हमें उस वस्तु का ज्ञान होता है। परन्तु सूक्ष्म निरीक्षक इस पर आपत्ति करता है कि ज्ञान एक आन्तर वस्तु है। वह आत्मस्थ होता है, बाहर वस्तु प्रदेश में ज्ञान संभव नहीं। फिर बिना मन योग के इन्द्रियों से ज्ञानोत्पत्ति नहीं होगी और मन हृत्प्रतिष्ठ है। कुछ मान लेते हैं कि मन भी

चक्षु के साथ बाहर चला जाता है। यह भी कोरी उपहासस्पद कल्पना है। अस्तु !

वैदिक विज्ञान इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट कहता है कि प्रत्येक वस्तु में उसकी प्राण शक्ति व्याप्त है। प्राण के बिना कोई वस्तु ठहर ही नहीं सकती। प्राण में बल और विधारण शक्तियाँ अधितिष्ठित हैं। निष्प्राण वस्तु बिना बल और विधारण के चूर चूर होकर गिर जाएगी। यह प्राण वस्तु के भीतर भी रहता है और बाहर भी फैलता है। प्रत्येक पदार्थ में अग्नेय प्राण रहता है क्योंकि अग्नि की संज्ञा ही पार्थिव प्राण है। 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा'। वैदिक परिभाषा में प्राण दो प्रकार का है १) चित्य २) चितेनिधेय। जिस प्राण के चयन से वस्तु निर्मित होती है, वह चित्य प्राण भूतों का उत्पादक हैं। वस्तु स्वरूप संघटक चित्य प्राण ही 'अग्नि' है। अपने चयन से उस वस्तु को घड़कर फिर प्राण उस पर बैठता है। जैसे-मकड़ी अपनी ही लार से जाल बनाकर स्वयं उस पर बैठती है। तेज भी दीपक का स्वरूप बनकर उस पर दूर तक बैठकर फैलता है। चित्याग्नि मृत तथा चितेनिधेय अमृत रूप होती है। चित्य, वस्तु मे एकदेशीयता तथा चितेनिधेय सर्वदेशीय रूप को धारण किए रहता है। चित्य प्राणाग्नि जो वस्तु स्वरूप में चिनी हुई है, चितेनिधेय-अमृतप्राण से सम्बन्ध स्थापित कर अपने स्वरूप को हमारी चक्षु तक पहुँचा देती है। वस्तु के परिमाण के अनुसार प्राणों के फैलने की अवधि भी छोटी या बड़ी पर्वतादि बहुत दूर से दीख जाते हैं। प्राण शक्ति बिना आधार के नहीं रहती वा चलती। इसलिए अपनी आधारभूत 'वाक्' भी साथ लाती है। अर्थात् प्राण के साथ 'वाक्' का भी वितनन होता है। ध्यान रहे जिन प्राण और वाक् का हमने वितनन कहा है, वे आध्यात्मिक तत्त्व न समझे जायें ये तो अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व हैं। यह सूक्ष्मवाक् और प्राण सदा मण्डल रूप में रहा करते हैं। चारों ओर इनका प्रसार है-इसीलिए वस्तु चारों ओर से ही समानान्तर पर दिखाई देती है। इस दर्शन में जितना उस वस्तु का आकार है, वह 'ऋक्' कहा जाता है

और जहाँ तक उसका प्रसार है-वह अन्तिम भाग रूप मण्डल उसका साम है- अर्थात् समाप्ति और मध्य के जितने मण्डल हैं-उनमें व्याप्त अग्नितत्त्व यजुः कहलाता है। ऋक् और साम तो अवधि मात्र हैं, वस्तु का सार उसका यजुः में ही भरा रहता है। यजु केन्द्र है। केन्द्र से ही विकसित होने वाला व्यास या विष्कम्भ ऋक् है। व्यास की तिगुनी परिधि होती है। तृचं साम अर्थात् ऋचा का तिगुना साम है। व्यास जितना बड़ा होगा उसी अनुपात से मण्डलायतन होगा। व्यास और परिधि से बना हुआ आयतन एक छन्द मात्र है। वह एक आकार है। उस पात्र में जो रस भरा जाता है, वही वास्तविक पदार्थ है। छन्द अर्थात् विष्कम्भ और मण्डल को वयोनाध कहते हैं। जो वय या रस पदार्थ उस छन्द या वयोनाध में छन्दित, सीमित या नद्ध हो जाता है, वही भूतसमन्वित प्राणतत्त्व है जिसे वयः भी कहा जाता है। वही यजुः है।

सारांश यह है कि ऋक्-यजु और साम तीनों वेद परस्पर सम्बद्ध रूप से रहते हैं। साम मण्डल के अन्तर्गत यजुः ही देखने आदि में कारण होता है। सब जगत् के प्राणभूत सूर्य को उदाहरण मानकर इन वेदों का विवरण शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार लिखा है[1] कि यह जो सूर्य का मण्डल तप रहा है, वह 'महदुक्थ' हे। यह ऋचा रूप है (ऋचाओं का समूह है)। यही ऋचाओं का लोक है, अर्थात् स्थान है। यह जो प्रकाश फैल रहा है-प्रदीप्त हैं वह महाव्रत है। ये साम कहे जाते हैं। यह (प्रकाश मण्डल) सामों का लोक है। इस मण्डल के बीच में जो पुरुष है, वह अग्नि है। ये ही यजुः कहे जाते हैं, वह यजुओं का लोक है। इस प्रकार यह त्रयी विद्या ऋक्-यजुः और साम ही तप रहे हैं किन्तु इस त्रयी विद्या अर्थात् तीनों तत्त्वों को भिन्न-भिन्न कहनेवाले भी अविद्वान् हैं। यह एक ही 'वाक्' है। (प्राण के साथ चलने वाला तत्त्व)। तीनों रूपों से दिखाई देती हुई मानों बोल रही है। मण्डल में जो पुरुष (प्राणरूप अग्नि है) है, वह मृत्यु अर्थात् मृत्यु से आक्रान्त मर्त्य है। जो प्रकाश रूप से प्राण फैल रहा है, वह अमृत है। इसी कारण मर्त्यमण्डल मरता नहीं क्योंकि

वह अमृत के भीतर बैठा है। यही अमृत उसकी रक्षा का रहा है। प्राण के आधार पर वाक् जीवित रहती है। प्राण से ही उसका पोषण भी होता है। वह मर्त्यमण्डल स्वतः हमें दिखाई नहीं देता; क्योंकि वह अमृत के अन्तर्गत अर्थात् उससे आवृत्त है। अर्थात् मण्डलं स्वतः तो दिखाई नहीं देता अपितु उसके फैले हुए प्राणरूप रश्मिपुंज ही दिखाई देते हैं। अमृत मृत्यु से ऊत्तर है। ऊत्तर का अर्थ यहाँ दूर है। ऊत्तर है अर्थात् इधर हमारी ओर फैला हुआ है। किन्तु सम्पूर्ण प्रकाश मण्डल उस मर्त्यरूप मूर्त्तिमण्डल पर ही रखा हुआ है। मूर्त्ति के स्थान से हट जाने पर प्रकाश-मण्डल भी स्थान से हट जायेगा। यह मूर्त्ति मण्डल उसी के आधार पर वास कर रहा है। वह मूर्त्तिरूप सूर्यमण्डल अहोरात्र जनक इस प्रकाश-मण्डल को मानों पहने हुए है। अर्थात् प्रकाश मण्डल मूर्त्ति का वस्त्रस्थानीय है। इस मृत्युमण्डल की आत्मा भी इस प्रकाश मण्डल के केन्द्रभूत विवस्वान् नाम के प्राण पर ही प्रतिष्ठित है। अतः इन दोनों साम और यजुः की प्रकाशमण्डल और फैले हुए प्राण की प्रतिष्ठा वह मूर्त्तिमण्डल ही है।

इस शतपथ ब्राह्मण के लिखित उद्धरण के अर्थानुसार यह स्पष्ट है कि ऋक् यजु और साम स्पष्ट विवरण कर उनकी वाक्-प्राणरूपता और उनका अन्योन्य-सम्बन्ध स्पष्ट अक्षरों में कह दिया है। वस्तु मात्र में ये तीनों विराजमान हैं तथा इन तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता, तीनों नित्य सम्बद्ध रहते हैं। इस महावैज्ञानिक, महाविद्वान् महायोगी महर्षि याज्ञवल्क्य के द्वारा रचित शतपथ के उद्धरण से यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि साइंटिस्ट महोदय प्रकाश गणित का विस्तारण कर यह बताते है कि बहुत से तारों का प्रकाश यहाँ पहूँचने में सैकड़ों वर्ष लगेंगे। यह मात्र एक रोचक कल्पना है। क्योंकि वैदिक साइंस में ऋक् और साम अर्थात् प्रकाश और मण्डल नित्य सम्बद्ध है और साम मण्डल ऋक् के आधार पर ठहरा है। इसीलिए उनका प्रकाश नहीं आया तो नहीं ही आएगा।

इस प्रकरण में दो शब्द 'महोक्थ' और महाव्रत आए हैं। इस गंभीर रहस्य को इस प्रकार समझ सकते हैं-कि निकलने वाले तत्त्व को जिसका नाम अग्नि है-महोक्थ कहते हैं। 'उक्थ' शब्द उत्थ से बना है। प्रत्येक पदार्थ में छोटा 'उक्थ' है। किन्तु सूर्य मण्डल का यह 'उक्थ' महोक्थ है और आनेवाले तत्त्व जिसे सोम तत्त्व कहते हैं उसे यहाँ महाव्रत कहा गया है। वैदिक परिभाषा में व्रत शब्द भोजन छोड़ने वा भोजन लेने दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। व्याकरण का वार्तिककार भी लिखता है-'व्रताद् भोजन तन्निवृत्योः' अर्थात् भोजन और भोजन निवृत्ति दोनों अर्थों में व्रत शब्द से 'णिच्' प्रत्यय है। बाहर से आनेवाला पदार्थ प्रत्येक वस्तु का भोजन बनके उसे पुष्ट करता है। हमारे भोजन भी हमारे शरीर में प्रकृति द्वारा पदार्थों के बाहर निकलने से जो न्यूनता आई है, उसकी पूर्त्ति करता है। इसी तरह प्रत्येक पदार्थ में न्यूनता की पूर्त्ति बाहर से आनेवाले पदार्थ से होती है। उसे महाव्रत कहते हैं। पदार्थ में व्रत है, सूर्य में महाव्रत है। उठकर बाहर निकलनेवाला अग्नि नाम का प्राणतत्त्व मूर्त्तिमण्डल का ही अंश है, मूर्ति में आत्मसात् होकर उसका स्वरूप भूत था, वही उठकर बाहर निकलता है, उसे ऋक् कहा गया है। परिधि अर्थात् व्याप्ति की अन्तिम सीमा पर बाहर जाकर वही अग्नि मण्डल के आकर्षण हट जाने के कारण प्रकृति के व्यापक सोम में मिलकर सोमरूप हो जाता है इसीलिए आर्चि को महाव्रत नाम से कहा। छान्दोग्य में साम का अनेक प्रकार वर्णन करते हुए कहा कि साम के प्रस्ताव अनेक होते हैं पर निधन एंक ही होता है। जहाँ से चलता है उसे प्रस्ताव और जहाँ समाप्त होता है उसे निधन कहते हैं। यहाँ इस आगन्तुक सोम पर भी यह तथ्य घटित होता है अर्थात् एक ऋक् पिण्ड पर या उसके केन्द्र बिन्दु पर समाप्त हो जाता है। इस प्रकार आवागमन रहने पर भी वस्तु सर्वथा उच्छिन्न नहीं होती है। 'वही वस्तु है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा बनी रहती है। वह स्थिर रहने वाली वस्तु अग्नि है। इसलिए उसको श्रुति में यजु नाम से कहा।

इस प्रकार अब तक हमने देखा विद् धातु का अर्थ विचारना में चारणा का अर्थ चलना-फिरना करले तो उक्त समस्त प्रक्रिया का समावेश हो जायेगा। इससे ऋषि मुनियों के व्यापक दृष्टि का भी पता चलता है। वे अपने धातु निर्देश से ही सब कुछ दर्शन समझा देते हैं। कोई वस्तु नई पैदा नहीं होती और न ही सर्वथा नाश होता है। मात्र प्रकट हो जाने का जनन या उत्पत्ति है तिरोहित हो जाने का नाम नाश है। देखिए धातुपाठ जनी प्रादुर्भाव, णश् अदर्शने और अदर्शनं लोपः।

फिर प्रकृत का अनुसरण करते हैं :- पूर्व कह चुके हैं कि ऋक् और साम केवल मर्यादा बांधने वाले हैं। छन्द वेद भी इसलिए कहते हैं। छन्द का अर्थ मर्यादा है। उन्हें यजुः का अश्व=वाहन बताया है। क्योंकि आवागमन तो अग्नि का ही होता है। मूलतत्त्व वाक्रूप या अग्निरूप यजु है। यही ऋक् से साममण्डल तक फैला हुआ रहता है। ऋक् पद्यरूप=वाक्यों को नियत मर्यादा में रखनेवाली होती है। साम भी पद्य पर गाये हैं। गान में वितनन होकर वह ऋक् की अपेक्षा बहुत विस्तृत होता है पर नियत मर्यादा में बांधे रहता है। यजुः गद्यरूप प्रकीर्ण है, उसके पद या वाक्य किसी नियत मर्यादा से सम्बद्ध नहीं है। यज्ञ का आहुति प्रदान रूप मुख्य कार्य यजुः से ही होता है[२]।

यहाँ यत् और जूः इन दोनों शब्दों से यज्जूः बना है। यत् शब्द का अर्थ है चलता हुआ अर्थात् गतिशील। जूः शब्द का अर्थ स्थिर। इसलिए यत् शब्द वायु और जू शब्द से आकाश गृहीत होता है। वायु और आकाश का सम्मिलित रूप यजु है। यजु गतिशील होने के कारण सबको उत्पन्न करता है। और आकश और महाव्रत की आवागमन प्रक्रिया में आने जाने वाला यजु है। अतः यजुः ऋक् और साम पर प्रतिष्ठित है। ऋक् और साम दोनों इसका वहन करते हैं अर्थात् बाहर निकालते और भीतर प्रवेश कराते हैं। इसलिए त्रयी अर्थात् तीनों वेद ही सबके उत्पादक और प्रतिष्ठापक है।

इस स्थापना के आधार पर अगर विद्वज्जनों की अनुमति हो तो हम

ऋग्वेद ५/४५/१५ के एक मन्त्र का अर्थ इस प्रकार कर सकते हैं-मन्त्र - अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।

अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।

अर्थात् अग्नि जाग रहा है। ऋचाएं उसकी कामना करती हैं अर्थात् उसी में रहती है। साम भी उसमें प्राप्त होते हैं। उसी जागते हुए अग्नि से सोम कहता है कि मैं तुम्हारी मित्रता में हूँ किन्तु तुमसे छोटी श्रेणी का हूँ।

अब तक के वर्णित तथ्य का कथ्य संक्षेप से इस प्रकार कहा जाता है- मूर्त्ति-गति-मण्डल और त्रयीविद्या इनमें बीच का केन्द्र यजुर्वेद है। उस केन्द्र से ही विकसित होने वाला व्यास या विष्कम्भ ऋग्वेद है। व्यास की तिगुनी परिधि होती है। 'तृचं साम'। परिधि या मण्डल साम है। व्यास जितना बड़ा होगा उसी अनुपात से मण्डल का आयतन बनता है। व्यास और परिधि से बना हुआ आयतन एक छन्दमात्र है। वह एक आकार है। उस पात्र में रस भरा जाता है वही वास्तविक पदार्थ है। छन्द अर्थात् विष्कम्भ और मण्डल को वयोनाध कहते हैं। जो वय या रस पदार्थ उस छन्द या वयोनाद्य में छन्दित, सीमित या नद्ध हो जाता है वही भूतसमन्वित प्राणतत्त्व है जिसे वयः भी कहा जाता है। वही यजुः है। वस्तुतः यजु ही वह तत्त्व है जो अव्यक्त केन्द्र में पहले प्रसुप्त रहता है और फिर गतिशील बन जाता है। इसी स्वरूप को ध्यान में रखकर तैत्तिरीय ब्राह्मण में निम्न प्रकार व्याख्या की गई है-

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।

सर्वं तेजः साम रूप्यं ह शश्वत् सर्वं हीदं ब्रह्मणाहैव सृष्टम्॥

ऋक् तत्व से मूर्त्ति या पिण्ड के विस्तार का निर्माण होता है। गति तत्त्व यजु है। तेज या मण्डल सम्मत है। इन तीनों के सम्मिलन रूप वेदत्रयी से ''इदं सर्वं'' या विश्व की सृष्टि होती है। इसमें ऋक्-साम क्रमशः व्यास और परिधि हैं। उस आयतन का निर्माण करनेवाला अर्थात् केन्द्र को वृत्तरूप में विकसित करने वाला गतितत्त्व यजु है। ऋषियों ने यजु को संकेत भाषा में

गति और स्थिति का प्रतीक माना है। उसका यत् भाग वायु या गति का संकेत है और जू भाग आकाश या स्थिति का संकेत हैं। आकाश सर्वत्र व्यापक है। वह अखण्ड स्थिति तत्व है। उसी आकाश के गर्भ में सब गतियाँ सम्भव होती है जिनका प्रतीक वायु है। अत एव यत्+जू कहें, या वायु-आकाश कहें या गति स्थिति कहें वैज्ञानिक तथ्य एक ही है। जिस केन्द्र बिन्दु में लम्बाई, चौड़ाई-मोटाई नहीं है, उसमें व्यक्त आंकाश की कोई कल्पना नहीं है, वह तो अन्यक्त अमूर्त्त सत्तामात्र है। गतितत्त्व एवं उसके सहकारी आगति तत्त्व के छन्दोमय रूप ही वायु या याजुष पुरुष कहा गया हैं। ऋक् साम तो याजुष पुरुष के विस्तार के लिए आयतन मात्र प्रस्तुत करते हैं। पुरुष वही है जो पुर में निवास करता है। ऋक् साम या व्यास और परिधि अथवा विष्कम्भ-परिणाह से जो आयतन बनता है-वही पुर है। यजुस्तत्त्व या याजुष पुरुष उसका केन्द्र है। उसके अन्तराल में जिस प्राण तत्त्व का संचरण होता है वही शक्ति का अग्नि याजुष कहलाता है। प्रत्येक प्राणवित्त केन्द्र में यह याजुषाग्नि दहक रही है। सूर्य इस याजुष पुरुष या गतिस्थिति के स्पन्दन का सबसे स्फुट रूप है। उसमें ऋक् यजु साम का समन्वित संस्थान क्रियाशील है। यही गतितत्त्व सूर्य का जीवन है। सूर्य के लिए कहा जाता है कि उसमें जो हिरण्मय पुरुष या तेज है वह साक्षात् त्रयीविद्या का रूप है। यह सूर्य तो एक प्रतीक है। इसकी अक्ष परम्परा में अनेक सूर्य पिरोए हुए हैं। प्रत्येक अपने-अपने ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। उसी अक्षछिद्र से शक्ति का स्त्रोत प्रत्येक मण्डल या ब्रह्माण्ड में उत्तरोत्तर के महामहिमा स्त्रोत से क्षरित होता हुआ प्रवाहित हो रहा है। प्रत्येक सौर मण्डल के गर्भ में जितने पदार्थ हैं सबका सुषिरात्मक आकाश सूर्य के केन्द्रवर्ती आकाश से मिला हुआ है। गति स्थिति का नियामक सूत्र सब में ओतप्रोत है। प्राण का यह दुर्धर्ष स्पन्दन ही सूर्य के देवरथ का संचरण है। रथ की गति उसके चक्र की परिधि या नेमि में अभिव्यक्त होती है। चक्रनेमि उसे अपने विष्कम्भ यानी व्यास से प्राप्त करती है। जितना व्यास

का विस्तार है उतना ही नेमि का परिभ्रमण होता है। चक्र के व्यास की स्फुटगति का स्त्रोत उसके अक्ष परिभ्रमण पर निर्भर है। अक्ष का परिभ्रमण तभी संभव है जब अक्ष बिन्दु में सुषिरात्मक आकाश हो। सुषिरभाग ही नभ्य प्रजापति या अव्यक्त अनिरुक्त प्रजापति है। अन्ततोगत्वा समस्त गति का प्राणात्मक स्पन्दन वा स्त्रोत कोई अखण्ड ध्रुवस्थिति बिन्दु है। वही प्रत्येक गति का हृदय है। वही याजुष पुरुष है, चाक्षुष पुरुष है मध्यस्थ पुरुष है। नभ्य ऐन्द्रप्राण या आग्नेय पुरुष दुर्धर्ष गति के रूप में प्रकट हो रहा है।

सम्पर्क : ०९८६८५३६७६२

**१. यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थं, ता ऋचः स ऋचा लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम्, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः ॥१॥ सैषा यय्येव विद्या तपति। तद्धेतदप्यविद्वांस आहुः-त्रयी वा एषा विद्या तपति इति। वाग्धैव तत्पश्यत्ती वदति ॥२॥ य एष एव मृत्युः य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो अथैतदमृतम्-यदेतदर्चिर्दीप्यते, तस्मान्मृत्युर्न म्रियते, अमृते ह्यन्तः। तस्माद् न दृश्यते अमृतेह्यन्तः ॥३॥ तदेष श्लोको भवति अन्तरं मृत्योरमृतमिति-अवरं ह्येतन्मृत्योरमृतम्। मृत्यावमृतमहितमिति - एतस्मिन् पुरुषे एतन्मण्डलं प्रतिष्ठितं तपति। मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते इत्यसौ वा आदित्यौ विवस्वन्, एष ह्यहोरात्रे विवस्ते। तमेष वस्ते; सर्वतो ह्यनेन परिवृतो मृत्योरात्मा विवस्वति इति एतस्मिन् हि मण्डले एतस्य पुरुषस्यात्मा एतदेष श्लोको भवति ॥४॥ तयोर्वा एतयोः, उमयोः तस्य चार्चिष एतस्य च पुरुषस्य एतन्मण्डलं प्रतिष्ठा ॥ इत्यादि**

**२. देखिए-एक शतपथ ब्राह्मण का. १०, अ. ३ के ब्राह्मण पू. कं. १, २ 'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते, एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति, एतं रतियन्तमिदमनुद्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः। यदिदमत्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनुजवते। तदेतद्यजुर्वायुश्चात्तरिक्ष च। यच्च जूश्च। तस्मायजुरेष एव ह्येति। तदेतद्यजुऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्। ऋक्सामे वहतः।**

# ईशावास्य उपनिषद् और यजुर्वेद संहिता

**- डा. महावीर मीमांसक**

ईशावास्य उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की काण्व और माध्यन्दिन शाखाओं के ४० वें अध्याय पर आधारित है। यजुर्वेद के मूल पाठ से इस उपनिषद् के पाठ में कहीं कहीं कुछ अन्तर है जिसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

इस उपनिषद् का प्रारम्भ यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के प्रथम मन्त्र के अनुसार 'ईशावास्यमिदं सर्वं' इत्यादि मन्त्र से होता है। मन्त्र के प्रथम शब्द ईशावास्यं होने के कारण इस उपनिषद् का नाम ईशावास्य उपनिषद् पड़ा।

'ईशावास्यं' शब्द का विग्रह ईश+आवास्यम् ईशेन आवास्यम् अथवा ईशस्य आवास्यम्' समास द्वारा है किन्तु वैदिक संशोधन मण्डल पूना द्वारा सन् १९५८ में प्रकाशित तथा वी.पी. लिमये और आर.डी. वाडेकर द्वारा सम्पादित Eighteen Principal Upanishads V.I. में इसका पाठ ईशा वास्यम् ऐसा ईशा शब्द को वास्यम् से अलग करके दिया हुआ है और इसका विग्रह भी कुछ विद्वानों के अनुसार ईशा+आवास्यम् करके दे रखा है जो अशुद्ध है। सम्भवतः ऐसा पाठ क्रिश्चियन लोगों के ईशा-मसीह के प्रभाव के कारण हो सकता है। कहीं पर भी वैदिक वाङ्मय में ईशा शब्द प्राप्त नहीं होता अपितु सर्वत्र ईश शब्द ही मिलता है, अतः यह शब्द ईश है ईशा नहीं।

यहां यह प्रश्न खड़ा होना स्वाभाविक है कि मन्त्र में जगत्यां जगत् क्यों कहा गया, 'यत्किञ्च जगत्' यही कहना पर्याप्त था, छन्दोभङ्ग या तो वेद में होता नहीं या पूर्ति के लिये कोई पद अव्यय आदि रखा जा सकता था, ''जगती में जगत्'' यह क्या अभिप्राय हुआ ?

प्रश्न का उत्तर अत्यन्त दार्शनिक है। विद्वच्छिरोमणि पं. गुरुदत्त विद्यार्थी ने इस मन्त्र में आये हुये इन शब्दों की व्याख्या द्वारा इस प्रश्न का उत्तर दे दिया है।

जगती और जगत् ये दोनों शब्द पाणिनि व्याकरण की दृष्टि से गम् धातु से यङ्लुगन्त कर्त्ता में क्विप् प्रत्ययान्त रूप वाले हैं जिनका अर्थ हुआ बार बार गति करने वाला यह जगत् स्थूल रूप में गतिमय है यह तो प्रत्यक्ष है ही सूर्य, ग्रह, नक्षत्र पृथ्वी आदि सभी भौतिक पिण्ड गति कर रहे हैं यह तो जगती शब्द से अभिप्रेत हो गया। दूसरा शब्द जगत् भी इस स्थूल रूप से दृष्टि गोचर गतिमय जगत् (संसार) में इन पिण्डों के घटक अणु और परमाणु भी निरन्तर गतिमय बने रहते हैं यह वैज्ञानिक तथ्य दूसरे जगत् शब्द से किया गया है।

मन्त्र के अगले अंश में आये हुये 'त्यक्तेन' शब्द का भी गम्भीर अर्थ है। तेन त्यक्तं भुञ्जीथाः' न कहके 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस वाक्यांश का अर्थ है। उस (ईश) के द्वारा प्रदत्त भौतिक पदार्थों के द्वारा उपभोग करो। उपभोग भौतिक पदार्थों से भिन्न अनुभूति का नाम है। अतः उपभोग (आनन्द) भौतिक पदार्थों का नहीं अपितु भौतिक पदार्थों के द्वारा प्राप्त किया जाता है। भौतिक पदार्थ उपभोग का साधन है न कि स्वयं उपभोग हैं। इस तृतीया विभक्ति के द्वारा यह तथ्य स्पष्ट किया गया है कि भौतिक पदार्थों में आसक्त नहीं होना है अपितु अपने आप को उनसे भिन्न रखते हुये उनके द्वारा आनन्द (उपभोग) की अनुभूति करनी है। मा गृध कस्यस्विद् धनम् के लिये पाणिनि का (७-४-३४) अशना... गर्धेषु सूत्र द्रष्टव्य है।

यहां मन्त्र में त्रैतवाद स्पष्ट है-१. ईश, २.जगत् और ३. जीव (भोक्ता)

अगला मन्त्र कर्म का प्रतिपादक है :-

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादि। इस मन्त्र में जिजीविषेत् इस प्रथम पुरुष को आगे त्वयि में मध्यम पुरुष देखकर वी.पी. लिमये और आर.डी. वाडेकर 'जिजीविषेः' मध्यम पुरुष में पढ़ने का सुझाव देते हैं किन्तु वेद में पुरुष व्यत्यय का विधान होने के कारण यही पाठ ठीक है। समाः शब्द का अर्थ भी उक्त विद्वान् 'मूलतः इसका अर्थ अर्ध वर्ष था' यह कहते हैं किन्तु जीवेमः शरदः शतं में शरद् वर्ष का पर्यायवाची होने से समाः का अर्थ वर्ष ही होना

चाहिये। मन्त्र में त्वयि शब्द भी विभक्ति व्यत्यय से परिवर्तित होकर तेरे लिये इससे अतिरिक्त (और कोई मार्ग) नहीं है यह अर्थ बन जायेगा। अर्थात् 'कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा कर' कर्मफल में आसक्ति का निषेध स्वतः ही हो जाता है। इस प्रकार जीवन यापन करने से कर्म (फल) मनुष्य में लिप्त नहीं होता, मनुष्य कर्म में लिप्त नहीं होता यही भाव अन्यथोक्ति द्वारा गम्य है।

अगले तीसरे मन्त्र में उपर्युक्त प्रकार से जीवन यापन न करने वाले आत्मघाती लोगों की दुर्गति का वर्णन है। इस मन्त्र में असुर्या शब्द विचारणीय है। वैदिक मण्डल पूना से प्रकाशित उपनिषदों में यहां सम्पादक महोदय असूर्य शब्द का सुझाव देते हैं, किन्तु अन्यत्र वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थानों पर असूर्य शब्द ही उपलब्ध होता है जिसका अर्थ असुरों से सम्बद्ध लोक लिया जाता है। यहां उपनिषद् में अभिगच्छन्ति पाठ के स्थान पर मूल यजुर्वेद संहिता में अपिगच्छन्ति (प्रेत्यापिगच्छन्ति) पाठ है, किन्तु उस से अर्थ में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं पड़ता।

४,५ वें मन्त्रों में प्रथम मन्त्र में चर्चित ईश (ईश्वर) के गुणों और कर्मों का वर्णन है। ६ और ७ मन्त्र में आत्म द्रष्टा और ईश का द्रष्टा मनुष्य की मनःस्थिति का वर्णन है तथा ८ वें मन्त्र में फिर ईश्वर को स्वरूप आदि का वर्णन है।

अगले मन्त्रों में मूल यजुर्वेद के मन्त्रक्रम उपनिषद् में बदल गये हैं। यजुर्वेद शुक्ल (माध्यन्दिन संहिता) में ९ वां मन्त्र असम्भूति और सम्भूति वाला है तथा १० वां और ११ वां मन्त्र भी असम्भूति और सम्भूति विषयक हैं जबकि ईशोपनिषद् में ९ वां मन्त्र अविद्या और विद्या वाला है तथा अगले दो मन्त्र भी अविद्या और विद्या विषयक हैं। जबकि १२, १३ और १४ वें मन्त्र यजुर्वेद में अविद्या और विद्या विषयक हैं तथा ईशोपनिषद् में ये मन्त्र असम्भूति और सम्भूति विषयक हैं। अर्थात् यजुर्वेद और ईशोपनिषद् में तीन तीन मन्त्रों का क्रम विपर्यय हैं किन्तु मन्त्रों में शब्दों और उनके क्रमों का प्रमेय

दोनों में एक जैसा है, शब्दों में कोई अन्तर नहीं है।

यहां विद्या और अविद्या शब्दों के अर्थ के विषय में विचार करना आवश्यक है। शंकराचार्य ने विद्या का अर्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ माया किया है किन्तु स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के नववें समुल्लास में विद्या का अर्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ कर्म किया है। यहां शंकराचार्य और ऋषि दयानन्द का विद्या का अर्थ ज्ञान तो समान है किन्तु अविद्या शब्द के अर्थ में महान् अन्तर है। शंकराचार्य का अविद्या का अर्थ माया और स्वामी दयानन्द का अविद्या का अर्थ कर्म की परीक्षा हम यहां करेंगे।

विद्या का अर्थ ज्ञान है इसमें कोई विवाद नहीं है। अविद्या शब्द में विद्या शब्द से नञ् तत्पुरुष समास में अविद्या शब्द की व्युत्पत्ति होती है। यहां नञ् तत्पुरुष प्रसज्य प्रतिषेध में मानें तो अविद्या का अर्थ होगा विद्या का पूर्ण अभाव किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं बैठता क्योंकि अन्तिम तीसरे मन्त्र में अविद्या का फल मृत्यु से तैरना (अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा) कहा है जो विद्या के अभाव द्वारा सम्भव नहीं हैं, क्योंकि इस पक्ष में अविद्या एक अभावात्मक पदार्थ होगा जो मृत्यु के पार पहुंचाने का कारण नहीं हो सकता। अतः दूसरा पक्ष तदितर अर्थ ही करना युक्तियुक्त होगा। उस अवस्था में अविद्या का अर्थ होगा विद्या से भिन्न कोई भावात्मक पदार्थ जो मनुष्य को मृत्यु आदि दुःखों से पार लगाने में समर्थ हो। ऐसा पदार्थ क्या हो सकता है इसके निर्णय के लिये हम यजुर्वेद के इसी अध्याय की ही अन्तःसाक्षी खोजेंगे।

यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय और उस पर आधारित ईशोपनिषद् दोनों का पहला मन्त्र ''ईशावास्यं'' ईश्वर का ज्ञान, भोग्य जगत् का ज्ञान और भोक्ता आत्मा का ज्ञान इन तीनों के ज्ञान की चर्चा करता है जो साक्षात् विद्या का विषय है जैसा कि मन्त्र में कहा है 'विद्ययाऽमृत-मश्नुते' विद्या के द्वारा अमृत-अमर पद-मोक्ष या ईश्वर की प्राप्ति होती है। इसी सें अगले दूसरे मन्त्र में कर्म के विषय में चर्चा की गई है 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'। यह दूसरा मन्त्र कर्म विषयक मन्त्र है। इस से यह स्पष्ट हुआ कि यजुर्वेद का ४० वां अध्याय

ज्ञान और कर्म का विषय लेकर विवरण प्रस्तुत करता है। अब यहां प्रस्तुत इन मन्त्रों में विद्या तो सीधा ज्ञान है ही अविद्या का अभिप्राय विद्या से भिन्न भावात्मक पदार्थ कर्म ही है जिस के विषय की चर्चा यजुर्वेद के दूसरे मन्त्र में की गई है। वस्तुतः यजुर्वेद का ४० वां अध्याय और उस पर आधारित ईशोपनिषद् ज्ञान और कर्म विषयों को लेकर ही विषयों को प्रस्तुत करते हैं जिन विषयों का प्रकरण प्रारम्भ के दोनों मन्त्र क्रमशः देते हैं। अतः ऋषि दयानन्द का अविद्या शब्द का कर्म अर्थ करना सर्वथा उपयुक्त है जो यजुर्वेद के इसी अध्याय की अन्तःसाक्षी पर आधारित है। मन्त्रों के दूसरे त्रिक में विद्या और अविद्या को सम्भूति और असम्भूति शब्दों से बदल किया है जो क्रमशः विद्या और अविद्या का रूपान्तर है तथा विषय का प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया गया है। यहां हम इस प्रसङ्ग की संक्षिप्त व्याख्या करना आवश्यक समझते हैं।

यजुर्वेद के प्रथम त्रिक मन्त्रों अर्थात् मन्त्र संख्या ९,१०,११ में तथा ईशोपनिषद् में द्वितीय त्रिक अर्थात् मन्त्र संख्या १२, १३, १४ में जिन शब्दों का प्रमाण है वे हैं क्रमशः सम्भूति असम्भूति, सम्भव असम्भव और सम्भूति तथा विनाश। यजुर्वेद के ९ वें मन्त्र तथा ईशोपनिषद् के १२ मन्त्र में सम्भूति और असम्भूति शब्दों का प्रयोग है तथा अगले मन्त्र संख्या में इन दोनों शब्दों के स्थान पर क्रमशः सम्भव और असम्भव शब्दों का प्रयोग है अर्थात् सम्भूति का अर्थ सम्भव है और असम्भूति का अर्थ असम्भव है। तीसरे मन्त्र में सम्भूति का प्रयोग ज्यों का त्यों प्रयोग हुआ किन्तु पहले मन्त्र का सम्भूति असम्भूति तथा दूसरे मन्त्र का असम्भव के स्थान पर तीसरे मन्त्र अर्थात् यजुर्वेद के ११ वें तथा ईशोपनिषद् के १४ वें मन्त्र में असम्भूति और असम्भव के स्थान पर विनाश शब्द का प्रयोग हुआ है। पहले दो मन्त्रों में असम्भूति और असम्भव शब्दों द्वारा जो कथन किया गया, तीसरे मन्त्र में फलश्रुति में इन दोनों शब्दों के स्थान पर विनाश शब्द का प्रयोग किया। इनमें भी एक तात्त्विक दार्शनिक तथ्य निहित है।

असम्भूति और असम्भव शब्द दूसरे त्रिक में प्रयुक्त अविद्या का स्थानी है अतः इन शब्दों का वही अर्थ है जो अविद्या का अर्थ है अर्थात् कर्म। अन्तिम मन्त्र के विनाश शब्द द्वारा अविद्या या कर्म को इसलिये कहा गया क्योंकि कर्म और उसका फल सान्त होता है, अविनाशी या नित्य नहीं। कर्म भी सान्त होता है और उसका फल भी सान्त होता है। सान्त क्योंकि विनाश शील है, अतः उसे विनाश शब्द द्वारा अन्तिम मन्त्र में कहा गया। इसके विपरीत विद्या को इस त्रिक में सम्भूति और सम्भव शब्दों द्वारा कहा गया जो असम्भूति या विनाश के विपरीत है। विद्या या ज्ञान नित्य चेतन तत्त्व का गुण है अतः ज्ञान अर्थात् चेतना नित्य है अतः उसका फल अमृत ईश्वर भी नित्य है। हालांकि उसकी अनुभूति का आनन्द नित्य स्थायी नहीं है क्योंकि वह कर्मजन्य है। अमृत आनन्द और उसकी प्राप्ति इन दोनों अवस्थाओं में अन्तर है। अमृत या आनन्द नित्य है किन्तु कर्म द्वारा उसकी प्राप्ति नित्य नहीं अपितु अनित्य है अतः मोक्ष की प्राप्ति नित्य नहीं कही जा सकती।

अब दूसरे त्रिक में प्रयुक्त विद्या और अविद्या के सम्बन्ध में कुछ और कहना है। ईशोपनिषद् और यजुर्वेद के मन्त्रों में सर्वप्रथम विद्या और अविद्या दोनों का साथ साथ वर्णन है। प्रथम मन्त्र में जब यह कहा गया कि केवल विद्या अर्थात् ज्ञान की उपासना या अनुष्ठान करने वाले लोग अन्धन्तम में प्रवेश करते हैं और केवल अविद्या या कर्म का अनुष्ठान करनेवाले लोग भी अन्धकार के गर्त्त में गिरते हैं तो यह तथ्य प्रथम अविद्या या कर्म के अनुष्ठान को लेकर पहले कहा गया ज्ञान या विद्या का अनुष्ठान करने वाले लोग उससे और भी गहन अन्धकार में गिरते हैं। केवल कर्म का अनुष्ठान बिना ज्ञान के ऐसा है जैसे बिना आँखो से देखें पैरों से चलते जाना। किन्तु इसमें कुछ तो कर्म हो ही जाता है, लेकिन बिना कर्म किये केवल ज्ञानवाद का नाश कर देने वाले लोग उनसे भी अधिक अन्धे गर्त्त में गिरते हैं, वे तो जीवन में एक भी पग नहीं चल सकते। इस प्रकार यह पहले मन्त्र में केवल कर्म का नारा देकर या केवल ज्ञानवाद को लेकर चलनेवाले लोगों या समाज और राष्ट्र की दुर्दशा और पतन

की चेतावनी दी गई है। दूसरे मन्त्र में धीर और विवेकी, ऋषि मुनियों की सम्मति क्या है यह बतलाया है। विवेकी लोग ज्ञान और कर्म दोनों की उपयोगिता पृथक् पृथक् रूप में बतलाते हैं जो दोनों उपयोगिताएँ जीवन में अनिवार्य हैं वह उपयोगिता क्या है  यह अगले मन्त्र में स्पष्ट किया है। अविद्या अर्थात् कर्म के द्वारा मनुष्य मृत्यु अर्थात् सांसारिक कष्टों और अभावों को पार कर लेता है इन्हें दूर कर देता है और विद्या या ज्ञान द्वारा वह अमर पद परमात्मा या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसलिये विद्या और अविद्या अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों को साथ साथ लेकर चलना अनिवार्य है, न केवल ज्ञान और केवल कर्म मनुष्य के जीवन को सर्वाङ्गीण बना सकता है। इस प्रकार यहां ज्ञान और कर्म का समन्वय विस्तार से स्पष्ट किया है।

यहां तक ईशोपनिषद् और यजुर्वेद के मन्त्रों में समानता है यद्यपि कुछ कम व्यत्यय है जैसे हमने लिखा किन्तु अगले मन्त्रों में न वैसी पूर्ण समानता है और न ही संख्याक्रम समान है।

शुक्ल यजुर्वेद की मूल माध्यन्दिन संहिता में मन्त्रों की कुल संख्या १७ (सत्रह) है जबकि ईशोपनिषद् में मन्त्रों की कुल संख्या १८ है। यजुर्वेद संहिता में १५ वां मन्त्र 'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्' इत्यादि है जबकि ईशोपनिषद् में यह मन्त्र १७ (सतरहवां) है। मन्त्र का उत्तरार्द्ध भी कुछ भिन्नता लिये हुये है। यजुर्वेद संहिता में मन्त्र का उत्तरार्द्ध 'ओ३म् । क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतं स्मर' । इस प्रकार से है, जबकि ईशोपनिषद् में यह उत्तरार्द्ध इस प्रकार से है 'ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर' । क्रतो स्मर कृत स्मर' पाठ ईशोपनिषद् में दोहरा दिया गया है जबकि यजुर्वेद संहिता में यह एक बार पढ़ा गया है। अन्यत्र यजुर्वेद संहिता का 'क्लिबे स्मर' पाठ का ईशोपनिषद् में सर्वथा  अभाव है। पुनश्च यजुर्वेद संहिता में 'ओ३म् प्लुत कृत है तथा पूर्णविराम लिये हुये हैं जबकि ईशोपनिषद् में ऐसा नहीं है ॐ सामान्य है तथा बिना पूर्णविराम के है। यजुर्वेद संहिता में 'क्रतो स्मर' के बाद पूर्ण विराम है किन्तु ईशोपनिषद् में ऐसा नहीं है अपितु एक साथ पाठ है।

यजुर्वेद संहिता में १६ वां मन्त्र 'अग्ने नय सुपथा ....' इत्यादि संहिता रूप में सन्धि .... करके दे रखा है किन्तु ईशोपनिषद् में यह मन्त्र अन्त में १८ वीं संख्या पर दे रखा है तथा सन्धि का सर्वत्र अभाव है।

यजुर्वेद संहिता का अन्तिम १९ वां मन्त्र इस प्रकार है :-

**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम्मुखम्।**

**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खम्ब्रह्म।**

किन्तु ईशोपनिषद् में यह मन्त्र १५वीं संख्या पर तथा निम्न प्रकार से है-

**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।**

**तत्त्वं पूषन्नपा..... सत्यधर्माय दृष्टये।**

ईशोपनिषद् में एक मन्त्र यजुर्वेद संहिता के मन्त्रों से अधिक है और वह निम्न प्रकार से हैं :-

**पूषन्नेकर्षे मम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह तेजः।**

**यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥१६॥**

ईशोपनिषद् में यह मन्त्र १६ वीं संख्या पर दे रखा है। इस मन्त्र के अन्त में आये हुए शब्द ''योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' ये शब्द यजुर्वेद संहिता की मन्त्र संख्या १९ अर्थात् अन्तिम मन्त्र के अन्त में निम्न प्रकार से हैं-'यो सावादित्ये पुरुषः सो सावहम्।' तथा मन्त्र की समाप्ति 'ओ३म् खम्ब्रह्म' शब्दों से हुई है। यजुर्वेद संहिता का यही पाठ सर्वथा उपयुक्त और स्वतः प्रामाणिक भी है।

यह अवधेय है कि यह तुलना हमने ईशोपनिषद् के पूना संस्करण आचार्य वी.पी. लिमये तथा आर.डी. वाडेकर द्वारा सन् १९५८ में सम्पादित/प्रकाशित हुई थी उसकी है, तथा इस में सस्वर मन्त्र कहीं भी नहीं हैं जब कि यजुर्वेद संहिता में सभी मन्त्र सस्वर तथा संहिता रूप में हैं।

सम्पर्क : वैदिक शोध सदन,

नई दिल्ली ११००६३.

# यजुर्वेद और पर्यावरण विज्ञान

– डॉ. महावीर सिंह आर्य

**'पर्यावरण'** से तात्पर्य है हमारे चारों ओर स्थित वह वातावरण जिसका हम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं, एवं आवश्यक रूप से उपभोग भी करते हैं। **'पर्यावरण'** शब्द 'परि' (उपसर्ग) पूर्वक आवरण शब्द के संयोग से बना है जिसका अर्थ है आवरण का बाह्य रूप । अंग्रेजी में इसका पर्याय (Environment) है। वस्तुतः यह अर्थ परिवर्तन की दिशाओं में अर्थ संकोच की स्थिति में है। वास्तव में पर्यावरण शब्द **'परि'** का अर्थ है=चारों ओर, और **'आवरण'** का मुख्य अर्थ है=ढकना या घेरना। अर्थात् हमारे चारों ओर जो कुछ विद्यमान है, वह सब हमारा पर्यावरण है। इसमें प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक दोनों तत्त्व समानतः सम्मिलित हैं। समग्रतः कहा जा सकता है कि हमारी प्राकृतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थितियां हमारा पर्यावरण है।

प्रकृति पर्यावरण का अनिवार्य अंग है, किन्तु यह सर्वत्र समान नहीं है। कहीं उसका सुरम्य स्वरूप नयनाभिराम है तो कहीं अतिशय भयानक भी है। पर्यावरण के अन्तर्गत प्रकृतिजन्य समस्त तत्त्व, पर्वत, आकाश, जल, अग्नि, ऋतुएं, नदियां, सरोवर, वृक्ष, वनस्पति, जीव जन्तु, ग्रह नक्षत्र, दिशाएं, वायु अथवा पृथिवी कह सकते हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड ही समाहित हो जाता है। ये सभी तत्त्व मानवीय जीवन को प्रभावित करते हैं, साथ ही स्वयं भी मानवीय कृत्यों से प्रभावित होते हैं।

यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर अनेक मन्त्रों में वर्णन प्राप्त होता है जिसमें, जल, वायु, आकाश, वनस्पति, मेघ, वर्षा, अग्नि, पृथिवी, यज्ञ आदि प्राकृतिक तत्त्वों की रक्षा एवं मानव जीवन में उनके उपयोगिता की

चर्चा की गई है। भौतिक विज्ञान के आधार से मानव जीवन में जहां सरलता, सौम्यता, उसके रहन सहन, खान-पान, आहार-व्यवहार में कृत्रिमता आई है तब से मनुष्य प्रकृति से विमुख होता गया। फलतः उसके जीवन में जटिलताएं, पीड़ाएं, कठिनाईयां बढ़ी हैं और उसके शरीर मन और आत्मा में रुग्णता की वृद्धि हुई है।

आज सर्वत्र पर्यावरण की अशुद्धता से संसार विनाश के कगार पर है। वाहनों से निकले धुएं, कल-कारखानों से निकले जहरीले तत्त्व, महानगरों में व्याप्त कर्णकटु ध्वनियों द्वारा जीवन में सांस लेना भी दूभर हो रहा है। न पीने को स्वच्छ जल है, न सांस लेने के लिए शुद्ध वायु, उसके साथ खाने पीने की हर वस्तु में मिलावट, कृत्रिम रसायनों से असमय में पकाये जाने वाले फल, सब्जियां, अन्न आदि के सेवन से हमारा शरीर रोगों का घर बन गया है। ऐसे विषम वातावरण में वेदों के पर्यावरण विषयक विचारों को तथा वेदोक्त ऋषियों के चिन्तन मनन को जानना समीचीन तथा प्रासंगिक है। आओ, देखें, यजुर्वेद में इस विषय में क्या और कैसा चिन्तन पाया जाता है।

**संक्षिप्त विवरण :-**

**१. जल का महत्त्व :** - वेद जल की उत्पत्ति, जल की प्राप्ति, जल की बनावट, जलों के स्थान वा जलों के गुणों का वर्णन विस्तार से करता है और जलों के विभिन्न विकारों का, रूपों का और उनके लाभों का भी वर्णन वेद में प्राप्त होता है। वेदों में जल सम्बन्धी २०० से अधिक मंत्र प्राप्त होते हैं। उन सबका वर्णन संभव नहीं, मात्र यजुर्वेद में जल के महत्त्व से सम्बन्धित संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार से हैं- जल, झरनों, नदियों, तालाबों, झीलों, समुद्रों में होता हैं[१]। जल प्यास बुझाते हैं[२]। जल से औषधियां, पौधे-वृक्ष उगते और पलते हैं जलों को कुम्भों में रखते हैं तथा खेतों को सींचते हैं[३]।

जल में भार होता है, जल बहता है, जल से अग्नि को शांत करते हैं, जल में मधु है। जल के अणु, आपस में शीघ्रता से मिल जाते हैं[४]। जल में बिजली होती है जल का रूप होता है, इसे प्राप्त करते हैं[५]। जल का विस्तार से वर्णन यजुर्वेद के १६-३६, १६-३२, तथा १८-३६ में भी मिलता है। जलपान करने से मन शान्त होता है[६]। जल को औषध भी कहा गया है[७]। जलों को ऊपर से गिराकर अथवा वेग से घुमाकर और मंथन करने से विद्युत् प्राप्त करने का वर्णन भी यजुर्वेद में प्राप्त होता है[८]। यजुर्वेद के २२ वें अध्याय का २७ वां मन्त्र वात वायु, धूम, समान्य, मेघ, विद्युत् गर्जन करते बादल तथा प्रलयंकारी वर्षा करनेवाले बादलों से स्वामी की कामना की गई है। यजुर्वेद २६-१५ का मन्त्र एक सहज सत्य का निरूपण करता है जब ऋषि कहता है कि नदियों के संगम स्थलों तथा अभ्रस्पर्शी पर्वतों की उपत्यकाओं की शीतल छाया में बैठकर हम अपनी धारणावती बुद्धि को अधिक तीव्र तथा प्रखर बनाते हैं[९]। अतः पर्यावरण शुद्धि के लिए जल का दुरुपयोग रोककर शुद्ध बनाना तथा प्रदूषित होते बचाना हमारा प्राथमिक कर्त्तव्य होना चाहिए। इसीलिए कहा जाता है-'जल ही जीवन'।

**२. पृथिवी का महत्त्व :-** उत्पत्ति के समय पृथिवी छोटी थी जल में डूबी थी[१०]। यह बहुत देर तक गीली रही, जल सूखा[११]। उस समय तक इस पर कोई वनस्पति भी नहीं थी, यह गंजी थी[१२]। पृथिवी के अंदर भी जल है[१३]। पृथिवी अपनी धुरी पर घूमती है[१४]। सूर्य के चारों ओर भी घूमती है। धुरे का चक्र दिन रात में समाप्त होता है[१५]। और सूर्यवाला चक्र एक वर्ष में पूरा होता है और चांद भी पृथिवी के गिर्द घूमता है। इन गतियों से रात, मास, वर्ष, ऋतु बनते हैं[१६]। पृथिवी में विद्युत् भी है इसमें धातु बनती हैं, पृथिवी में धातुओं की खान है[१७]। पृथिवी को खोदकर धातु, सोना, लोहा निकालते हैं[१८]। पृथिवी के अंदर आकर्षण शक्ति है[१९]। पृथिवी

एक विशाल क्षेत्र है, इस पर खेती करते हैं, उपज होती है[२०]।

अतः पृथिवी के तापमान बढ़ने से वायुमण्डल में ओजोन परत का क्षरण का मुख्य कारण वृक्ष वनस्पतियों की कटाई, छटाई भी मुख्य कारण है। पृथिवी का वायुमण्डल प्रदूषित हो पर्यावरण को हानि पहुँचा रहा है। जंगलों को पृथिवी के फुफ्फुस कहा गया है। पृथिवी इन्हीं जंगलों की वनस्पतियों से मानों सांस ले रही हैं यदि जंगल ही समाप्त हो जायें तो भूजल पर भी प्रभाव पड़ेगा अतः पर्यावरण शुद्धि के लिए पृथिवी को हरा भरा बनाना, उसका सदुपयोग करना भी महत्त्व रखता है।

**३. सूर्य व उसकी किरणों का महत्त्व :-** वेदों में सूर्य व सूर्य की किरणों के महत्त्व को प्रदर्शित करनेवाली अनेकों ऋचायें प्राप्त होती हैं। सूर्य का प्रकाश सारे जगत् में फैला है[२१]। शीघ्र ही उसकी रश्मियां फैलकर प्रकाश कर देती हैं[२२]। सूर्य के ताप से पृथिवी के जलों की भाप बनकर बादल बनते हैं जो वर्षा करते हैं[२३]। सूर्य की किरणें कृमिनाशक है[२४]। सूर्य का उदय और अस्त समय की किरणों से कई रोगों का इलाज भी होता है[२५]। सूर्य की किरणों से हृदयरोग पीलियारोग का शमन भी होता है[२६]। सूर्य पृथिवी से बड़ा है[२७]। सूर्य की गरमी से फसलें व फल पकते हैं[२८]। सूर्य जीवों की आंखों को शक्ति देता है इसका सम्बन्ध चक्षु से है[२९]। सूर्य का प्रकाश चारों दिशाओं में फैलता है तथा सूर्य गली सड़ी वस्तुओं का नाशक है[३०]। यजुर्वेद के ३३ वें अध्याय के ३१ से लेकर ४३ तक के मन्त्र सूर्य के महत्त्व तथा उससे मनुष्य को प्राप्त होनेवाली ऊर्जा का उल्लेख करते हैं। सूर्य के वाचक वेदों में कई शब्द आते हैं, जैसे आदित्य, रवि, विष्णु, सविता आदि। सूर्य का वर्णन ऋग्वेद के कई मन्त्रों मे भी मिलता है[३१]।

**४. वायु का महत्त्व :-** वायु सृष्टि का प्राण है। जिस तरह परब्रह्म परमात्मा ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, उसी तरह वायु अचेतन होते हुए भी सृष्टि में

व्याप्त है। आज का विज्ञान, वैज्ञानिक, विद्वान्, वायुमण्डल की शुद्धि के लिए चिन्तित और सक्रिय है। वैदिक काल में भी यह चिन्तन चलता रहता था। यथा यजुर्वेद में ऋषि कहता है कि वायु में गति है, शीतलता है[३२]। शरीर में वायु कई कार्य करता है। अंगों को हिलाने में वायु सहायक है। प्राणवायु शरीर में जाकर जीवन को सुरक्षित रखता है[३३]। वायु शब्द को ले जाता है इसलिए वायु को मातृष्वाः भी कहा गया है[३४]। वायु के गुणों का वर्णन यजुर्वेद १८-४१ तथा ३३-१८ में भी वर्णित है। पंच भौतिक वायु के कई गुण और है[३५]। यह वर्षा करता है। तथा गर्भाशय से बच्चे को बाहर लाने में सहायक है। वायु, प्राणों की रक्षा का सबसे सशक्त एवं अनिवार्य साधन है। शरीर में परिभ्रमण करते हुए दूषित रक्त को वायु ही शुद्ध करता है। वेद हमें वायु को शुद्ध बनाये रखने के लिए उपदेश भी करता है[३६]।

**५. वृक्ष और वनस्पतियों का महत्त्व :-** वृक्ष और वनस्पतियों का हमारे जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जल और वायु का मिश्रण उत्तम औषधियों और वनस्पतियों की उत्पत्ति का कारण है। वृक्ष और वनस्पतियों से हमारे प्राणों की रक्षा होती है। वृक्ष अपने पत्तों द्वारा कार्बनडाई आक्साइड़ को सोखते हैं तथा जड़ों के द्वारा जल को खींच कर सूर्य के प्रकाश और पत्तों के अंदर स्थित हरितद्रव्य के संयोग से कार्बोहाइड्रेड्स और प्राणवायु का विसर्जन, यह प्रक्रिया वृक्षों, लताओं और पौधों में निरन्तर चलती रहती है। यजुर्वेद के १२ वें अध्याय में औषधि के महत्त्व का वर्णन वाले जो मन्त्र हैं उनका अभिप्राय है कि समुचित औषधियों का सेवन मनुष्य को जराजीर्ण नहीं बनने देता। इन औषधियों को बल प्रदायिनी कहा गया है। इन औषधियों में विभिन्न प्रकार के रोगों के शमन करने की अपार शक्ति है। इसे मनुष्य दीर्घकाल तक स्वस्थ रहता है[३७]। बीसवें अध्याय के १९ वें मन्त्र में यह कामना की गई है कि जल तथा औषधियां हमारे लिए मित्रवत् हितकारी हों[३८]।

**६. यज्ञ का महत्त्व :-** आज का विज्ञान कीटनाशक द्रव्यों और अन्य रासायनिक पदार्थों से पर्यावरण की रक्षा करना चाहता है जो एकांगी है। सिर्फ वायुमण्डल में अथवा जल भूपृष्ठ पर दवाइयों के छिड़कने से पर्यावरण शुद्धि नहीं होगी। उसी के साथ मन, बुद्धि तथा आत्मा को शुद्ध करने के उपाय करने होंगे। जिन्हें यज्ञ के माध्यम से ही साध्य किया जा सकता है। यज्ञ की आहुति से पर्यावरण शुद्ध होता है साथ ही वेदमन्त्रों के उच्चारण और अर्थ बोध से बुद्धि निर्मल होती है। यज्ञ से मानव मन की द्वेष भावना समाप्त होती है तथा, वायुमण्डल भी शुद्ध होता है[३९]। यथा 'तू सूर्य के प्रकाश को हिंसित न कर, तू अवकाश को हिंसित न कर, तू पृथिवी के साथ रह।' वैज्ञानिकों का कहना है कि अन्तरिक्ष के वातावरण को यदि निर्विष नहीं किया गया तो कुछ समय बाद जनजीवन खतरे में पड़ जायेगा। घृत के स्निग्ध गुण से कीटाणु और रोगाणु नष्ट होते हैं। यह पदार्थ विज्ञान से सिद्ध है। किसी विष को नष्ट करना है तो घी पिलाया जाता है। उसी तरह वायुमण्डल के विषाक्त वातावरण को घृत के सूक्ष्म कणों से ही शुद्ध बनाया जाता है।

इस प्रकार यज्ञ का वैज्ञानिक और प्रयोगात्मक स्वरूप यदि बरकरार रखा जाय तो उसके पर्यावरण पर प्रभाव डालने वाले अनेक लाभ मिल सकते हैं। यजुर्वेद में कहा गया है 'हमारी आयु जीवन यज्ञ से, श्रेष्ठ कर्म से समर्थ हो, चक्षु यज्ञ से समर्थ हों, पीठ यज्ञ से समर्थ हो, (मेरु दण्ड के स्वस्थ रखने से) हम प्रजापति परमेश्वर की सच्ची प्रजा हों। देव बनकर सुख विशेष को प्राप्त करें और अन्त में जन्म मरण के चक्र से छूटकर मुक्त होवें[४०]।

इस प्रकार वेदों में तथा यजुर्वेद में पर्यावरण के महत्त्व को दर्शाते हुए उसको शुद्ध रखने एवं सीमित मात्रा में दोहन एवं उपयोग करने की शिक्षा,

आदि काल से दी गई है। इन्हें भूलने का परिणाम है कि नदियां, वायुमण्डल, खेत, भूगर्भ जल, वनस्पतियां, सभी प्रदूषित होकर असाध्य बीमारियों को जन्म दे रही हैं। मानव जीवन को स्वस्थ एवं पृथिवी पर सरलता से जीने के लिए हमें प्राकृतिक संसाधनों को वेदों के अनुसार देव रूप परमात्मा का प्रसाद मानकर वंदन, संरक्षण, एवं संवर्धन करना होगा। अन्यथा जीवन विनष्ट हो जायेगा। इसलिए वेदों में परिवार, समाज, राष्ट्र, पृथिवी तथा पर्यावरण की शान्ति का संदेश दिया गया है। अंत में सबसे महत्त्वपूर्ण पर्यावरण शुद्धि हेतु राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। वह प्राकृतिक संसाधनों की शुद्धता का ध्यान करने हुए उनका सदुपयोग करें। नई पीढ़ी के लिए इस विषय की गम्भीरता और अनिवार्यता बहुत ही आवश्यक है।

सम्पर्क : के २२९३ शास्त्रीनगर,
मेरठ (उ.प्र.)
०१२१-२६०३६२७/९७१९१४५३७७

**१. यजु. १२-९०, २. यजु. ६-१९, ३. अथर्ववेद १२-१-३१, ४. यजु ३६ वां अध्याय सम्पूर्ण।, ५. यजु. २९-१३, ६. यजु. ६-३१, ७. यजु. १-२३, ८. यजु १३ वां अध्याय। ऋग्वेद ६-१६-१६, ९. यजु. २६-१५ १०. यजु. ३५-७, ऋग्वेद १०-८२-१, ११. यजु. ३५-६, १२. ऋग्वेद १०-६०-९। यजु. १८-४१, १३. यजु. ५-१०३, १४. यजु. ३-६, ९, १५. यजु. १४-१५, १६. यजु. ३-६, १४-१५, १७. यजु. १२-१०३, १२-१४४, १८. यजु. ९-२२, अथर्व. १२-१-६, १९. यजु. १२-१०३, २०. यजु. २३-४६, २१. यजु. ३१-२०, २२. यजु. १७-५९, २३. यजु. ११-५४, ११-८९, २४. यजु. १८-४०, २५. यजु. ३३-४३, २६. ऋग्वेद १-५०-११, अथर्व. १-२२, २७. यजु २३-४८, २८. यजु. १२-४७, २१-५६, ९-१७, २९. यजु. ४-३, ३०. यजु. १७-५९, १८-४०, ३१. ऋग्वेद १-१५९-४, ३२. यजु. ४०-३५, ऋग्वेद १०-१८६-१०, ३३. यजु. ७-१९, अथर्व. १६-४-३, ३४. यजु. १८-४१, ३५. यजु. २-१९, ३६. अथर्व. ८-५-१९, ४-२७-५, यजु. ३३-३४, ऋग्वेद ८-१८९-१०, ३७. यजुर्वेद (१२) वाँ अध्याय सम्पूर्ण, ३८. यजु. २०/१९, ३९. यजु. ५-४३, ४०. यजु. ९-२१**

महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य के आलोक में जगत्कर्त्ता

# ब्रह्मस्वरूप मीमांसा

**- डॉ. कृष्णपाल सिंह**

भारतीय ऋषि-मुनि तथा पाश्चात्त्य वेदाध्येता प्रायः सभी एकमत हैं कि वेद विश्व के पुस्तकालय में सर्वाति प्राचीन ग्रन्थ हैं। परन्तु प्राचीन ऋषियों की परम्परा वेद को अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरोपदिष्ट स्वीकार करती है जबकि पाश्चात्त्य परम्परा इसके ठीक विपरीत वेदों को मानव रचित मानती है। इन वेदों के अध्ययन से एक बात तो स्पष्ट ही भासित होती है कि उनमें मानव के अभ्युदयार्थ सब प्रकार का ज्ञान विज्ञान निहित है। वेदों में जहाँ भौतिक विज्ञान का चरमोत्कर्षात्मक ज्ञान विज्ञान विद्यमान है वहाँ अध्यात्म विद्या का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान-विज्ञान पदे पदे दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि महर्षि दयानन्द ने ऋ.भा. भूमिका में लिखा है कि 'वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं परन्तु उन में चार मुख्य हैं एक-विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना, दूसरा कर्म, तीसरा-उपासना और चौथा ज्ञान। इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त पदार्थों का साक्षाद्बोध का होना, उनसे यथावत् उपयोग का करना। इससे यह विषय इन चारों में प्रधान है। वह भी दो प्रकार का है। एक परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना, दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों (अर्थात् साधर्म्य और वैधर्म्य) को यथावत् विचार के उनसे कार्य सिद्ध करना अर्थात् ईश्वर ने कौन कौन पदार्थ किस किस प्रयोजन के लिये रचे हैं। इन दोनों में से ईश्वर का प्रतिपादन है वह ही प्रधान है क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है[१]।

कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण**

**ब्रवीम्योमित्येतत्**[२] । महर्षि ने उक्त वचन का अर्थ करते हुए ऋ.भा.भूमिका में लिखा है कि 'परम पद अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, जिसमें परब्रह्म को प्राप्त होकर सदा सुख में ही रहना, जो सब आनन्दों से युक्त सब दुःखों से रहित सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है जिसके नाम 'ओ३म्' आदि हैं, उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है[३] । वस्तुतः वेदों में दो विद्यायें हैं-एक अपरा दूसरी परा । इनमें अपरा विद्या से पृथिवी और तृण अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों के साधर्म्य और वैधर्म्य को साक्षात् करके सब कार्यों को सिद्ध किया जाता है। जबकि पराविद्या से सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वर की यथावत् प्राप्ति होती है। यह विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त श्रेष्ठ है[४] ।

ऋग्वेद सब पदार्थों के गुणादि धर्मों का प्रकाशक है। जबकि यजुर्वेद क्रियाकाण्ड के विधान का प्रतिपादक है। वस्तुतः ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है। यजुर्वेद में अनेक विद्याओं का विचार करने से सब जागतिक व्यवहारी पदार्थों से उपयोग लेना तथा क्रिया भी विधिपूर्वक करने से सब वस्तुओं का यथार्थरूप में भेद प्रकट हो जाता है जैसा कि आचार्य यास्क ने निरुक्तशास्त्र में लिखा है कि **'कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'**[५] अर्थात् वेद मन्त्रों से कर्म की सम्पत्ति अर्थात् मोक्ष लाभ और परमेश्वर की प्राप्ति होती है। परमेश्वर ने जिस जिस अर्थ को जिस जिस नाम से वेदों में उपदिष्ट किया है, उन उन नामवाले वेदमन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना चाहिये। यास्काचार्य ने ऋचाओं के भेदों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'तास्त्रिविधाः ऋचः। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिकयश्च[६] अर्थात् ऋचायें तीन प्रकार की होती हैं, एक परोक्षकृत, दूसरी प्रत्यक्षकृत और तीसरी आध्यात्मिक। निरुक्त के उक्त वचन का अभिप्राय व्यक्त करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि 'उनमें से कई एक परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के, कई एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव, परमेश्वर के प्रतिपादन

करने वाली हैं[७]। तात्पर्य यह है कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं उनके विधायक मन्त्र हैं। यजुर्वेद कर्मकाण्ड विधायक है इसलिये उसमें परमेश्वर आदि के विविध कर्मों का विधान भी मिलता है।

**विष्णुरूप सर्वव्यापक जगदीश्वर के विविध कर्म :-** यजुर्वेद में विष्णु के विविध कर्मों को द्योतित करनेवाला मंत्र निम्न प्रकार है -

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्य सखा॥[८]

प्रकृत मंत्र का देवता विष्णु अर्थात् जगदीश्वर है। मन्त्र में विष्णु के विविध कर्मों का उपदेश है। विष्णु शब्द का अर्थ करते हुए सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि 'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः'[९] अर्थात् चर और अचररूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम विष्णु है। विष्णु सहस्त्रनाम के भाष्य में विष्णु शब्द की निरुक्ति शङ्कराचार्य ने इस प्रकार की है 'वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः विषेर्व्या-दयाभिधायिनो नुक् प्रत्ययान्तस्य रूपं विष्णुरीति। देशकालवस्तु-परिच्छेदशून्य इत्यर्थः। विशेर्वानुक् प्रत्ययान्तस्य रूपं विष्णुरीति। यस्माद् विष्टमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः। तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशेर्धातो प्रवेशनात्[१०]। अर्थात् जो समस्त जगत् में व्याप्त हो, वह विष्णु। व्याप्ति अर्थ वाले विष्लृ धातु से नुक् प्रत्यय लगाकर विष्णु शब्द बनता है। जैसा कि विष्णु पुराण में कहा है-यतः उस परमात्मा की शक्ति से यह सब व्याप्त है, अतः वह प्रभु विष्णु है। विश् प्रवेश से यह बनता है।

अभिप्राय यह है कि जो सब चराचर जगत् में व्यापक है, वह परमेश्वर है और वही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय (संहार) रूपी कर्मों को करता है, अन्य कोई नहीं। अतः एव विष्णु के गुण, कर्म और स्वभाव को वही देखने में समर्थ होता है जो सत्याचरण, सत्यभाषणादि व्रतों का पालक है और असत्याचरण, मिथ्याभाषणादि दोषों से रहित है। जो योगी, मुमुक्षु, व्यक्ति उक्त व्रतों का अनुष्ठान करके विज्ञानवान् होकर अपने अन्तःकरण को

परमशुद्ध, निर्मल, पवित्रयुक्त कर लेता है वह विष्णु के कर्मों का साक्षात्कार करता है। जैसा कि मन्त्र के भावार्थ में महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि 'परमेश्वर का अविरोध और सत्याचरण के बिना कोई भी मनुष्य ईश्वर के गुण, कर्म स्वभावों को नहीं देख सकता है।

**जगद्रचना के प्रकार :-** विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक, सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर ने इस जगत् की सृष्टि तीन प्रकार से की है जैसा कि यजुर्वेद के अधोलिखित मन्त्र से ज्ञात होता है।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे स्वाहा॥

मन्त्र का देवता विष्णु है, वह इस दृश्यादृश्य जगत् की सृष्टि तीन प्रकार की करता है। एक तो वह प्रकाशमान् सूर्यादि लोकों की रचना करता है। ये वे लोक हैं जिनमें सदैव प्रकाश ही प्रकाश रहता है। दूसरे अप्रकाशित चन्द्र पृथिव्यादि लोक हैं, जो सूर्यादि लोकों के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं क्योंकि इन लोकों में स्वयं का प्रकाश नहीं होता यही कारण है कि इन्हें अप्रकाशित लोक कहा जाता है। तीसरे प्रकार की रचना अदृश्य कहलाती है जैसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु जगत्। वैदिक परमाणु वह अतिसूक्ष्म कण है जो कणों को तोड़ते चले जाँय जब अन्तिम अवस्थागत कण किसी विधि से आगे अविभाज्य होता है उस अवस्थागत कण का नाम परमाणु है। यह इतना सूक्ष्म है कि इसे नेत्रों से देखना असम्भव होता है। इसी प्रकार मन, अहंकार, इन्द्रिय आदि विष्णु की अत्यन्त सूक्ष्म रचना है। अतः स्थूल और सूक्ष्म जगत् की सृष्टि ईश्वर का महान् विज्ञान है। परमेश्वर से बढ़कर और कोई विज्ञानी अथवा वैज्ञानिक नहीं है।

महर्षि दयानन्द ने ऋ.भा.भूमिका में उपरि निर्दिष्ट मंत्र की व्याख्या में लिखा है कि 'क्रमु पादविक्षेपे' धातु यह व्यक्त करती है कि वस्तु को पगों से दबाना वा स्थापन करना इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद

अर्थात् प्रकृति परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापित करके धारण कर रहा है। कौन से हैं तीन स्थान ? एक भार सहित और प्रकाश रहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में तथा प्रकाशमान् सूर्य और ज्ञानेन्द्रियों आदि को प्रकाश अर्थात् द्युलोक में। इस प्रकार ईश्वर ने तीन प्रकार का जगत् रचा है। फिर उन्हीं तीन भेदों में एक मूढ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है, वह अन्तरिक्ष आदि पोल के बीच स्थित है। यह केवल परमेश्वर की ही महिमा तथा विज्ञान है कि जिसने ऐसें ऐसे अद्भुत पदार्थ रचके सबको धारण कर रखा है[११]।

**अनन्त पराक्रमशील विष्णु के विविध गुण कर्म :-** परमेश्वर जब सृष्टि करता है तब वह यथायोग्य जगत् की रचनार्थ कारण द्रव्यों को गति प्रदान करता है। इस क्रिया को क्षोभ तथा सम्पीडन के नाम से कह सकते हैं। प्रकृति से महान् और महान् से अहंकार आदि क्षोभ के कारण ही उत्पन्न होते हैं। इससे आगे का विस्तार महाभारत के शान्ति पर्व अध्याय २३८ में अत्यन्त रोचक और वैज्ञानिक पद्धति से दर्शाया गया है। जिज्ञासु गण शान्ति पर्व के अनुशीलन से इस विषय को अच्छी तरह हृदयंगम कर सकते हैं। न्याय कुसुमाञ्जलिकार आचार्य उदयन ने परमात्मा की सिद्धि में 'आयोजनात्' यह हेतु दिया है। तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आदि में द्वयणुक को उत्पन्न करने वाला परमाणु द्वय का संयोजन कर्म हमारी शारीरिक क्रियाओं के समान कर्म होने से चेतन प्रयत्नपूर्वक है। उस काल में क्षोभ और सम्पीडन के द्वारा दो परमाणुओं को एक साथ करके द्वयणुक, त्र्यणुक, त्रसरेणु, इलैक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन नामक सूक्ष्म कणों की उत्पत्ति होती है। सम्पीडन का प्रभाव सृष्टि में सर्वत्र काम करता है। वह अन्तरिक्ष में विद्यमान सूर्य, पृथिवी और त्रसरेणु भेद से तीन प्रकार के जगत् की रचना करता है।

विष्णु ही सर्वाधार है अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म, भारयुक्त तथा भाररहित पदार्थों के साथ विद्यमान है, अन्तिम कारण से जगत् की सृष्टि करता है। वही

सबका एक मात्र आश्रय है। सब उसी का सहारा लेते हैं। उस सुख स्वरूप देव का हम लोग उपदेश करें, उसकी स्तुति और उसी का आश्रय ग्रहण करना चाहिये[१२]।

**विष्णु सम्पूर्ण ब्रह्माण्डादि का सृजक है :-** यजुर्वेद में विष्णु देवता के बहुत मन्त्र हैं। कतिपय मन्त्रों को गत पृष्ठों में उपन्यस्त किया जा चुका है। वस्तुतः वह विष्णु है कैसा ? उसका स्वरूप कैसा है? एत द्विषयक उपदेश यजु ५/१९ में दृष्टिगोचर होता है। हे विष्णु! आप कृपा करके हमें प्रसिद्ध अग्नि अथवा विद्युत् प्रदान कीजिए। हे सर्वव्यापक जगदीश्वर आप हमें सब ओर से द्रव्यों से तृप्त कीजिये और सब सुखों को प्रदान कीजिये। विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक जगदीश्वर ने प्रकृति से महत्तत्त्वादि क्रम से सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष, जल, वायु आदि सब पदार्थों को उत्पन्न किया है और वही उन्हें स्व सामर्थ्य से धारण कर रहा है। जैसे सूर्य पृथिवी आदि को अपने आकर्षण बल से धारण करता है वैसे ही विष्णु सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों को स्वाकर्षण बल से धारण कर रहा है। वह व्यापक जगदीश्वर अपनी प्रजा को सब ओर से सुख प्रदान करता है। ऐसे महान् शक्तिमान् 'अतुलबलवान्, जगदीश्वर की सब ओर से सबको स्तुति प्रार्थनोपासना करना श्रेयस्कर है।

**विष्णु अखिल ब्रह्माण्ड का नियामक है :-** सर्वव्यापक ईश्वर के विस्तृत (विशाल, अनन्त) त्रिविध जगत् की कुछ चर्चा गत पृष्ठों में कर चुके हैं। उसी त्रिविध जगत् में सम्पूर्ण भुवन मण्डल तथा समग्र प्रजा निवास कर रही है। अधोदत्त मन्त्र उस व्यवस्था का दिग्दर्शन कराता है-

**प्रतद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमःकुचरो गिरिष्ठाः।**
**यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥**[१४]

प्रकृत मन्त्र का भाष्य महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार किया है कि 'जिस जगदीश्वर के (उरुषु) अत्यन्त (त्रिशु) त्रिविध जगत् में (विक्रमणेषु) विविध प्रकार के क्रमों में (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक (अधिक्षियन्ति) निवास

करते हैं और (वीर्येण) अपने पराक्रम से (भीमः) भय करनेवाले (कुचरः) निन्दित प्राणि वध करने वाले और (गिरिष्ठाः) पर्वत में रहनेवाले, (मृगः) सिंह के (न) समान पापियों को खोज दुःख देता हुआ (प्रस्तवते) उपदेश करता है। (तत्) उसे कभी न भूलना चाहिये। मन्त्र के भावार्थ में लिखा है कि 'जैसे सिंह अपने पराक्रम से अपनी इच्छा के समान अन्य पशुओं का नियमन करता है वैसे ही सर्वत्र व्यापक विष्णु, जगदीश्वर अपने पराक्रम से सब लोकों का नियमन करता है[१५]। तात्पर्य यह है कि जैसे सिंह अपने बल और पराक्रम से इच्छानुसार विचरण करता हुआ अन्य प्राणियों पर शासन करता है वैसे ही विष्णु समस्त लोक लोकान्तरों को नियमानुकूल व्यवस्था एवं रक्षा करता है।

**जगत् विष्णु का बोधक है :-** यजुर्वेद के अनेक मन्त्रों में विष्णु अर्थात् व्यापक ईश्वर के विविध गुण कर्म और स्वभाव का उपदेश है। यह जो विविध प्रकार का दृश्यादृश्य तथा चराचर जगत् है वह सब विष्णु का व्याख्यान करता है। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सृजक वस्तुतः विष्णु ही है और यह जगत् उसमें ही विद्यमान है। अतः स्थूल, सूक्ष्म, दृश्य, अदृश्य, चराचर जगत् विष्णु का बोध कराता है क्योंकि वह समग्र विश्व में व्याप्त है। वही इस जगत् के विविध पदार्थ अर्थात् ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, तारामण्डल, नीहारिकायें, धूमकेतु तथा लोक लोकान्तर सब स्व स्व स्थान में यथावत् स्थापित किये हुए हैं और वही इन सब लोकादिकों को धारण व पालन कर रहा है। इसीलिये यह जगत् वैष्णव कहा जाता है। वह विष्णु सब कामनाओं की सिद्ध्यर्थ आश्रयणीय है और वही हमारा इष्ट देव है[१६]।

**सृष्टि का आधार त्रैतवाद :-** वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि जगत् में तीन सत्ताओं का होना आवश्यक है क्योंकि सब जगत् के व्यवहार तीन वस्तुओं के बिना होना सम्भव नहीं है। वेदों में तीन सत्ताओं अर्थात् ईश्वर जीव तथा प्रकृति का प्रतिपादन उपलब्ध होता है।

यह बात यजुर्वेद के अधोदत्त मंत्र से सुप्रमाणित होती है :-

**य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः ।**
**स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥**[१६]

उपरि उद्धृत मन्त्र के द्वारा तीन शाश्वत अनादि सत्ताओं की सिद्धि होती है और वे हैं-एक तो यह जगत् जो प्रकृतिरूप उपादान कारण से सृष्ट है। दूसरी सत्ता जीवात्मा की है जिसकी समग्र उन्नति के लिये, कर्मानुसार फलाभोगार्थ तथा चरमोत्कर्षार्थ यह जगत् रचा गया है। तीसरी सत्ता मन्त्र में विश्वकर्मारूप जगदीश्वर की कथित है जो जगत् का रचयिता व जगत्कार्य का निमित्त कारण है। इस प्रकार मन्त्र में ईश्वर, जीव, प्रकृति इन तीनों अनादि, नित्य, अविनाशी सत्ताओं का प्रतिपादन है। जैसा कि मन्त्र में परमात्मा को 'ऋषि' कहा गया है। ऋषि कौन होता है ? 'ऋषिदर्शनात्' इस वचन से ऋषि वह है जो सब चराचर जगत् का दर्शन अर्थात् ज्ञान रखता है। वह सम्पूर्ण जगत् का ज्ञाता है क्योंकि वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक है। वही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करता है और वह जगत् का व्यवस्थापक, पालक व रक्षक है। वह 'होता' है क्योंकि जगत् रचनाकाल में सब कुछ देता है और संहार अर्थात् प्रलय काल में सब का ग्रहण कर लेता है। जैसे बुभुक्षित पारद में स्वर्ण विद्यमान रहता है वैसे ही ईश्वर के आश्रय यह सब कारण विद्यमान रहता है। वह विश्वकर्मा जगदीश्वर हमारा (जीवों) का पिता अर्थात् पालक, रक्षक है। वही इस विस्तृत लोक लोकान्तरों की सुव्यवस्था करता है और वह इस भुवन मण्डल में व्याप्त होकर निरन्तर स्थित है। विश्वकर्मा अपने आकर्षण व अनन्तबल से सब भुवन मण्डल को धारण कर रहा है। वह अपने आशीर्वाद से जीवात्माओं के लिये धनादि ऐश्वर्यों को चाहता है और विस्तृत महान् पदार्थों को आच्छादित करता हुआ सूक्ष्म आकाशादि को भली भाँति आच्छादित अथवा व्याप्त कर रहा है। उक्त गुण कर्म स्वभाव युक्त जगदीश्वर ही एक मात्र उपास्य देव है और उसी की उपासना नित्य करनी

योग्य है। इस मन्त्र का व्याख्यान ऋषि ने आर्याभिविनय तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में भी किया है[१७]। अध्येतागण वहीं देखकर लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

**ईश्वर आकाशवत् सर्वत्र व्याप्त है :-** ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होने के कारण वह अनन्त स्थूल-सूक्ष्म सृष्टि का सृजनकर्ता है क्योंकि वह सर्वातिसूक्ष्म है और सर्वाति महान् होने से सूक्ष्म स्थूल पिण्डों, लोकों को रचता, धारण करता है। कैसे वह अपने लोकों को धारण करता है ? इस शंका का समाधान आचार्य उदयन ने **धृत्यादेः** कहकर किया है। 'धृति' का अर्थ धारण है। पंचम स्तवक की प्रथम कारिका की टीका में लिखा है कि 'धृतीति ब्रह्माण्डादि पतनप्रतिबन्धकी भूतप्रयत्नवदधिष्ठितं धृतिमत्वात्, वियति विहङ्गमधृतकाष्ठवत्। धृतिश्च गुरुत्ववतां पतनाभावः। धृत्यादेः' इत्यादिपदात् नाशपरिग्रहः। ब्रह्माण्डादि प्रयत्नव-द्विनाश्यं विनाशित्वात् पाट्यमानपटवत्[१८]। अर्थात् ब्रह्माण्डादि धृतमत् (किसी के द्वारा धारण किये हुए होने से पतन के प्रतिबन्ध (रोकने वाला) जो प्रयत्न (चेतन व्यापार) उससे (किसी चेतन से) अधिष्ठित है, आकाश में पक्षी द्वारा धारण की हुई लकड़ी के समान। पक्षी घोंसला बनाने के लिये जिस तिनके या लकड़ी को ले जाता है। वह तिनका इसलिए नहीं गिरता है कि उसे चेतन पक्षी धारण किये हुए है। इसी प्रकार ग्रहोपग्रहादि रूप यह समस्त ब्रह्माण्ड धारण किया हुआ है, गिरकर नष्ट नहीं हो जाता है। अत एव उसको धारण करनेवाला कोई होना चाहिये जिसके प्रयत्न से यह धारण किया हुआ है। जो इस ब्रह्माण्ड का धारण करनेवाला है वही परमात्मा है। वेदों में उसे अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्मा, आपः प्रजापति, विष्णु-इन्द्र विश्वकर्मा आदि नामों से कहा गया है। 'धृत्यादेः' इस हेतु में आदिपद आया है उससे नाश का ग्रहण होता है। ब्रह्माण्डादि विनाशी होने से फाड़े जानेवाले पट के समान, प्रयत्नवान् किसी चेतन से विनाश्य हैं जिस प्रकार फाड़े जाने वाला पट (वस्त्र) स्वयं नहीं फट जाता है उसको फाड़ने वाला कोई चेतन होता है। इसी प्रकार प्रलय काल में इस ब्रह्माण्ड का

नाश स्वयं नहीं हो जाता है अपितु उसका नाश करने वाला कोई प्रयत्नवान् चेतन होना चाहिए, वह चेतन ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता है।

'धृति' के रहस्य का ज्ञान हमें यजुर्वेद १७/९९ में होता है। परमेश्वर व्योमवत् सर्वत्र व्याप्त है। जैसे भौतिक जगत् में आकाश सर्वातिसूक्ष्म, निरवयव तत्त्व अर्थात् पदार्थ है, इसी कारण वह जगत् के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त है जैसे अनन्त आकाश में सब लोक लोकान्तर स्थित हैं वैसे ही सर्वत्र व्यापक ब्रह्म में सब भुवन मण्डल आश्रय प्राप्त कर स्थित हैं। जैसे तिलों में तेल, दही में घृत, भूमिगत स्त्रोतों में जल, अरणियों में अग्नि व्याप्त होती है वैसे ही ब्रह्म इस ब्रह्माण्डाकाश तथा हृदयाकाश स्थित आत्मा में विद्यमान है, उसे सत्याचरण व तप के द्वारा जाना जा सकता है[११]। इस ब्रह्म को ही प्राप्त करने का सब सदा प्रयत्न करते हैं, उसी का आश्रय, उसकी उपासना से धर्म, अर्थ काम और मोक्ष प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए, वेदोक्त ब्रह्म के स्थान पर अन्य किसी की उपासना नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह परमेश्वर अपने उपासकों को धर्म, विज्ञान के मार्ग में सदा प्रेरित करता है और अधर्म, अज्ञान, अन्याय, मिथ्या भाषणादि, असत्याचरण से सदा निवृत्त करता है।

**ब्रह्मोपलब्धि ही एकमात्र दुःखनाशक है :-** अपार दुःखसागर में निमग्न जनता के उद्धारार्थ की कामना से महर्षि कपिल ने कहा है कि 'त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः' अर्थात् तीन प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःखों) की अतिशय निवृत्ति मोक्ष है, इसलिए वेदादि शास्त्रीय साधन, उपाय के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए क्योंकि प्रत्यक्ष या लौकिक उपाय से अवश्य ही पूर्णरूप से दुःख निवृत्ति होना सम्भव नहीं है। यदि कोई यह कहे कि लौकिक उपाय से त्रिविध दुःखों की एकान्ततः और अत्यन्ततः निवृत्ति हो सकती है तो यह कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता है। इसी कारण महर्षि कपिल ने कहा कि 'न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्ति दर्शनात्' अर्थात् दृष्ट उपाय से अत्यन्त दुःख निवृत्ति की सिद्धि नहीं होती, एक

दुःख के निवृत्त होने पर भी उसी दुःख अथवा अन्य दुःखों की अनुवृत्ति अर्थात् सिलसिला देखा जाता है। इसीलिये श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि -

**'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।**
**तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।।**

अर्थात् मूर्तामूर्त प्रतीकों के माध्यम से यह कहा गया है कि परमात्मा को यथार्थरूप में यथावत् जाने बिना दुःख का अन्त नहीं हो सकता। यहाँ चर्म मूर्त प्रतीक और आकाश अमूर्त प्रतीक है। आकाश को चर्म के समान लपेटना वेष्टित करना असम्भव है तो 'देवमविज्ञाय' अर्थात् देव=परमात्मा को जाने बिना दुःख का अन्त भी सम्भव नहीं है। यजुर्वेद में भी कहा गया है कि परमेश्वर को जानने से ही मानव दुःखसागर से पार हो सकते हैं, अन्य कोई मार्ग नहीं है। मन्त्र निम्न प्रकार है-

**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।**
**तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय ।।**

अर्थात् वेदोक्त महान् गुणों से युक्त, आदित्य के तुल्य जिसका वर्ण (स्वरूप) है, उस प्रकाश स्वरूप परमात्मा जो अज्ञान वा अन्धकार से परे वर्तमान है, उस सुखस्वरूप को मैं पूर्णरूप से जानता हूँ। उसी को जानकर मनुष्य दुःख सागर रूपी मृत्यु को लांघकर परमानन्द को प्राप्त करते हैं, इससे भिन्न कोई भी अभीष्ट मार्ग मोक्षार्थ नहीं है मन्त्र के भावार्थ में महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि यदि मनुष्य ऐहिक और पारमार्थिक सुखों को चाहे तो सबसे महान् स्वप्रकाशस्वरूप, आनन्दस्वरूप अज्ञान के लेश से भी दूर परमात्मा को जानकर ही मृत्युरूपी अगाध दुःखसागर से पृथक् हो सकते हैं, यही सुखदायक मार्ग है इससे भिन्न दूसरा कोई भी मनुष्यों के लिये मुक्ति का मार्ग नहीं है।

ब्रह्म कैसा है? जीव और ब्रह्म भिन्न है क्या? ब्रह्म को कौन प्राप्त नहीं कर सकता ?

वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म स्वरूप विषयक बहुत वर्णन मिलता है। यजुर्वेद से कुछ सन्दर्भ निम्न प्रकार हैं-

इत्यादि स्थलों पर ब्रह्मस्वरूप दृष्टिगोचर होता है। ये सन्दर्भ तो उसके प्रतिपादक मन्त्रों का निदर्श मात्र ही किया गया है। परन्तु वेदाध्ययन द्वारा उसके गुण-कर्म-स्वभावों को सम्यक्तया जाना जा सकता है। ब्रह्म को कौन पुरुष प्राप्त करने में असमर्थ होता है यह विषय निम्न मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है-

**न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।**
**नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥**

महर्षि दयानन्द ने उक्त मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है। हे मनुष्यों! जैसे ब्रह्म को न जानने वाले लोग, धूमाकार, कुहक=कोहरा के समान अज्ञान से प्रकृष्टतया आवृत अर्थात् ढके हुए हैं, जल्प= सत्यासत्य वादानुवादों में विद्यमान, असु=प्राणों में तृप्त रहनेवाले अर्थात् केवल स्वार्थ साधक प्राण पोषणमात्र में ही प्रवृत्त हो रहे हैं और योगाभ्यास छोड़कर उक्त वचनों की प्रशंसा करनेवाले अर्थात् शब्द अर्थ के खण्डन में रत होकर व्यवहार करते हैं, ऐसे तुम लोग उस परमात्मा को नहीं जानते हो। जो ब्रह्म इन भूतों के शरीरों तथा लोक लोकान्तरों को उत्पन्न करता है।

**ब्रह्म जीव में एकत्व नहीं अपितु पृथक्त्व है :-** यह जो नवीन वेदान्ती लोग जीव ब्रह्म को एक मानते हैं, वह विचार वेद विरुद्ध होने से ठीक. नहीं हैं। मन्त्र में दोनों को पृथक्त्व बतलाते हुए कहा है- 'ब्रह्म युष्माकमन्तरं बभूव' अर्थात् जो ब्रह्म तुमसे एवं कार्य, कारण और जीवों से भिन्न है, मध्य में स्थित हुआ भी दूर सा है, उस अतिसूक्ष्म आत्मा के आत्मा ब्रह्म को नहीं जानते हो। उव्वट ने भी लिखा है कि-'युष्माकं च तस्य पुरुषस्य अन्यत् महदन्तरं बभूव' पुरुषो जनको यूयं जन्या। पुरुषो भ्रामको यूयं भ्राम्याः' अर्थात् तुमसे और उस पुरुष (परमेश्वर, ब्रह्म) का महद् महान् अन्तर है, पुरुष जनक है तुम सब जन्य अर्थात् तुम्हारा शरीर जन्य है, उत्पत्ति धर्मक है, पुरुष सब जगत् को चलायमान् कर रहा है, गतिमान करता है और तुम सब

गतिमान् हो रहे हो, इसी प्रकार महीधर ने भी लिखा है कि 'सर्वे जीवाः न केवलं नीहारेण जल्प्या च प्रावृता.... असुषु असून् वा तृप्यन्ति असुतृपः' अर्थात् सभी जीव न केवल नीहारेण अज्ञान से आवृत हैं अपितु, जल्प्या और असुतृप भी हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे जीव ऐहिक और पारमार्थिक भोगों में प्रवृत अज्ञान मिथ्याज्ञान के पराधीन होते हैं और उन्हें तत्त्वज्ञान नहीं होता है। महर्षि दयानन्द ने मन्त्र के भावार्थ में लिखा है कि 'जो ब्रह्मचर्य आदि व्रतों, आचार, विद्या, योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, सत्संग और पुरुषार्थ से रहित हैं, वे अज्ञानान्धकार से ढके हुए ब्रह्म को नहीं जान सकते, जो ब्रह्म, जीवादि से भिन्न, अन्तर्यामी, सबका नियन्ता सर्वत्र व्यापक है उसे पवित्र आत्मा ही जान सकते हैं।

अतः एव सर्वत्र व्यापक ब्रह्म को जानने के लिये आत्मा जो कि इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञान आदि गुणयुक्त अल्पज्ञ, नित्य, स्वदेशी है उसका और ब्रह्म का सम्बन्ध व्याप्य व्यापक भाव है जीव अल्प सामर्थ्यवान् है, वैसे ही सेव्यसेवक, आधाराधेय, स्वामीभृत्य, राजाप्रजा और पिता-पुत्र आदि भी सम्बन्ध है। उपरि चर्चित लक्षणवान् आत्मा जब सर्वदोष रहित होकर पूर्ण पवित्र होती है तब वह ब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ होती है। और तभी सर्व दुःखों का अन्त हो जाता है।

सम्पर्क : ई-१२८, गोविन्दपुरी,
रामनगर, सोडाला, जयपुर

*१. ऋ.भा. भूमिका वेदविषय विचार पृ. ४८ २. कठो. ३-२/१५*
*३. ऋ. भा. भूमिका पृ. ४८-४९ ४. वही देखें, पृ. ४९*
*५. निरुक्त १/२ ६. निरुक्त १-२*
*७. ऋ.भा. भूमिका पृ. ६९ ८. यजुर्वेद १३-२३; ३३*
*९. सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास पृ. १४ १०. विष्णुसहस्रनाम ३/१/४५ सत्यार्थ प्रकाश पृ. १४ पर उद्धृत पाद टिप्पणी। ११. ऋ.भा.भूमिका पृ. ३४० १२. वेदविद्यानिदर्शन पृ. १४. दयानन्द यजु. भाष्य भास्कर पृ. ३७७*

# सामवेदस्य मन्त्रसंख्या स्वतन्त्रसत्ता च

- डा. रवीन्द्रकुमार

श्रीमता भगवता वासुदेवेन श्रीमद्भगवद्गीतायां विभूतिवर्णनप्रसङ्गे **वेदानां सामवेदोऽस्मि** (भ.गीता. १०/२२) इत्युक्तम्। दर्शितं च तत्र यद्वेदानां मध्ये सामवेदो भगवद्विभूतिरिति। महाभारतेऽप्यनुशासनपर्वाणि (१४/३१७) सामवेदश्च वेदानां, यजुषां शतरुद्रियम् इति सामवेदप्रशंसोपलभ्यते।

पश्चिमापश्चिमानां सर्वेषामेषां विदुषामयं सर्वसम्मतः सिद्धान्तो वरीवर्ति यच्चत्वारो वेदाः खलु परमात्मनिःश्वासभूता विद्यन्ते। ऋग्यजुस्सामाथर्व-भेदाच्चतस्त्रः संहिताः सन्ति। ब्राह्मणभागो हि व्याख्यानभूतः। केचिद् विद्वांसो वदन्ति यदयं सामवेदो ननु ऋग्वेदस्यैव भागः। सामवेदस्य तु पञ्चसप्ततिः मन्त्रा एव सन्ति। वैदिकमुनिः स्वामिहरप्रसाद उदासीनो लिखति यत् एवं यज्ञकर्मणि गेयात्मकानां साम्नां मन्त्राणाम् ऋग्वेदात् पृथक्करणं प्रकृत्य क्रमविशेषेण लेखनं कृतम्, अतः एवास्य नाम सामवेदः। (स्वाध्यायसंहिता प्र.सं.पृ.३) स्वामिहरप्रसादोऽयं पञ्चसप्ततिमन्त्रात्मकं सामवेदमपि प्राकाशयत्। यस्मिन् ऋग्वेदस्य ये मन्त्रा आसन् तान् पृथक्कृत्य केवलं पञ्चसप्ततिः मन्त्रा एवासन्। (वेदरहस्य, प्र.सं.पृ.७०) विद्यानिधिः श्रीसिद्धेष्वरशास्त्री लिखति यत् वेदेषु सामवेदः तृतीयः। स्वतन्त्रवेदकथनस्यापेक्षया तु ऋग्वेदस्य गेयमन्त्रसंग्रह इति वक्तव्यम्। अत्र तु केवलं पञ्चसप्ततिः एव मन्त्राः सन्ति। अन्ये तु सर्वे ऋग्वेदे विराजन्ते एव। (मासिकपत्र वैदिकधर्म वेदांग, वर्ष १९)

पं. बलदेव उपाध्यायोऽपि सम्भाषते यत् गेयात्मकं साम। ऋचामाश्रितमिदं भवति। ऋच एव गेयाः। अतः समस्ते सामवेदे ऋच एव सन्ति। एतासां संख्या एकोनपञ्चाशदुत्तरपञ्चदशशतं वर्तते। सामवेदे केवलं पञ्चसप्ततिः एव स्वतन्त्रा ऋचः। अतः सामवेदस्य न स्वतन्त्रसत्ता। (संस्कृतसाहित्य का इतिहास, प्र.संस्करण)

पं. रघुनन्दन शर्मा सामवेदस्य महानाम्न्यार्चिकमारण्यभागं च परिशिष्टं वदति। सामवेदस्य दशाधिकाष्टादशशतं मन्त्राः सन्तीति मतं व्यवहरति। (वैदिकसम्पत्ति, द्वितीयं संस्करणम्, पृ. ५७१) पं. शिवशङ्करकाव्यतीर्थो लिखति यत् सामवेदे एकोनपञ्चाशदुत्तरपञ्चादशशतं मन्त्राः सन्ति। एतेषु अष्टासप्ततिमन्त्रान् विहाय अन्ये सर्वे मन्त्रा ऋग्वेदे समुपलभन्ते। अतः सामवेदस्तु ऋग्वेदान्तर्गत एव । सा ऋचा यदा गीयते तदा सामनाम्ना व्यवह्रियते। (वैदिक इतिहासार्थनिर्णय भूमिका पृ. ४) एवं विभिन्नानां मनीषिणां विभिन्नाः सम्मतयः सन्ति। एतेषामयं व्यक्तिगतो विचारः। एतेषां सर्वेषामपि सम्मतानामालोचनं स्वामि-स्वतन्त्रानन्दमहाराजेन (वेद की इयत्ता) इति नामके पुस्तके कृतम्। पं. रघुनन्दनशर्मणो मतस्यालोचनं तु नारायण-स्वामिना वेदरहस्यपुस्तके कृतमेव। एते सर्वेऽपि प्राज्ञाः पश्चिमानां विदुषा-मनुयायिनो भूत्वा स्वमतं प्रकटितवन्तः।

स्वामिदयानन्दमहाभागास्तु सामवेदे पञ्चसप्तत्युत्तराष्टादशशतं मन्त्राः सन्तीति स्वीकुर्वन्ति। वैदिकयन्त्रालयाजमेरद्वारा प्रकाशिते सामवेदे मन्त्रसंख्या पञ्चसप्तत्युत्तराष्टादशशतमेव वर्तते। श्रीपाददामोदरसात-वलेकरप्रकाशिते सामवेदेऽपि पञ्चसप्तत्युत्तराष्टादशशतमेव मन्त्रसंख्या अस्ति। स्वामिस्वतन्त्रा-नन्दमहाराजो लिखति यत् मम सम्मतौ तु सामवेदमन्त्रसंख्या पञ्चसप्तत्युत्तराष्टा-दशशतमेव वरीवर्ति। हरिप्रसादं परित्यज्य सर्वे पाठभेदं न मन्यन्ते। केवलं गणनाप्रकारेण संख्याभेदोऽस्ति। (वेद की इयत्ता पृ. १२२) चतुर्वेदभाष्यकारः पं. जयदेवशर्मविद्या-लङ्कारोऽपि स्वसामवेदभाष्ये पञ्चसप्तत्युत्तराष्टादश-शतमन्त्रसंख्यां स्वीकरोति। एतेषु मन्त्रेषु एव भाष्यं करोति। अतः सिध्यति यत् सामवेदस्य मन्त्रसंख्या पञ्चसप्तत्युत्तराष्टादशशतमेव वर्तते।

येऽपि विद्वांसो भाषन्ते यत् पञ्चसप्ततिमन्त्रान् अतिरिच्य सर्वेऽपि मन्त्रा ऋग्वेदस्य सन्ति अतः सामवेदस्य न पृथक् सत्ता वर्तते। तेषां वेदविदुषां विचाराय

केचन मन्त्राः प्रमाणस्वरूपेण उपस्थाप्यन्ते। येषां मन्त्राणां सूक्ष्मेक्षिकया समीक्षणं विधाय सिध्यति यत् ऋग्वेदस्य समकालीन एव सामवेदः। तस्य सामवेदस्यापि पृथक् स्वतन्त्रसत्ता वर्तते। तद्यथा-

तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।

(ऋ.१०/९०/६, यजु.२१/०७)

यो जागार तमु सामानि यन्ति। (ऋ. ५/४४/१४)

यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्। (ऋ. १०/१०७/६)

अवत्साम गीयमानम्। (ऋ. ६/८१/५)

यूयं ऋषिमवथ सामविप्रम्। (ऋ. ५/५४/१४)

अङ्गिरसां सामभिः स्तूयमानाः। (ऋ. १/१०७/२)

अर्चन्त एके महिसाममन्वत। (ऋ. १०/३६/५)

उभौ वाचौ वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानुराजति।

उद्गातेव शकुने साम गायसिः ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि। ऋ.२/४३

उपगासिषत् श्रवत्साम गीयमानम्। ऋ. ८/८१/५

एतोन्विद्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना। ऋ. ८/९५/७

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। ऋ. ८/९८/१

एतेषु उपर्युक्तेषु मन्त्रेषु सामानि, सामगाम्, साम सामभिः इत्येतानि पदानि सामवेदस्य पृथक् स्वतन्त्रसत्तां सम्पादयन्ति। एतैः पदैः निर्भ्रान्तिस्वरूपेण संसिध्यति यत् ऋग्वेदस्य समये एव सामवेदस्य स्वतन्त्रसत्ता विद्यते स्म। सामवेदो न ऋग्वेदमन्त्राणां संग्रहमात्रमिति अत्र न सम्प्रति सन्देहसन्दोहावसरः। अन्येषु वैदिकग्रन्थेषु अपि सामवेदस्य पृथक् सत्ता वर्तते। तद्यथा-

सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्। (अथर्व. १०/७/२०)

यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः। (शत. १४/५/४/१०)

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते। अथर्व. ८/५४/१

बृहतः परि सामानि । अथर्व. ८/९/४

ऋचः सामानि भेषजा । अथर्व. ११/७/२४

तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्मचानुव्यचलन् । अथर्व. १५/६/८

ऋचां च वै स साम्नां च .... । अथर्व. १५/६/९

सूर्यात् सामवेदः । (शत. ११/५/८/३)

सामवेद आदित्याद् । (ऐत.ब्रा. २५/७)

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम् ऋग्यजुःसामलक्षणम् । (मनुस्मृतिः)

इत्यादीनि वचांसि अपि सामवेदस्य पृथक्सत्तां परिलक्षयन्ति । ऋग्वेदस्य चत्वारि वाक्परिमिता पदानि (ऋक् १/१६४/४०) तथा चत्वारि शृङ्गाः (ऋ. ४/५८/३) इत्यादीनां मन्त्राणां व्याख्यायां यास्काचार्योऽपि चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः इति वचनमुक्तवान् । (नि. १३/७) अत्र स्पष्टतया चतुर्णामपि वेदानां पृथक्तया सत्तां स्वीकरोति यास्काचार्यः । सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः (महा. पस्पशा.) इति महावैयाकरणः पतञ्जलिरपि सामवेदस्य माहात्म्यं व्याचष्टे । सर्वेऽपि शास्त्रविशारदाः सुकृतिनो मनीषिणो विचारयन्तु यद् यदि सामवेदस्थ स्वतन्त्रसत्ता न स्यात्तदानीं तर्हि किं सामवेदस्य सहस्त्राणि शाखा भवितुमर्हन्ति ? कदापि न । ऋग्वेदात् पृथक् सामवेदस्य स्वतन्त्रसत्तासीत् तदैव तु एतावत्यः शाखाः सामवेदसम्बन्धिताः सन्ति । यदि गेयमानां मन्त्राणां समूह एव सामवेदः चेत् सामवेदे ते एव मन्त्रा भवेयुर्ये सामगानाय अपेक्षिताः । परं नैवं भवति ।

सामवेदे तु पञ्चाशदधिकचतुश्शतं मन्त्रा एतादृशाः सन्ति, येषु गानं न भवति । एतादृशानां मन्त्राणां सङ्ग्रहः सामवेदे न भवेत् । सामवेदे अधिकांशत ऋग्वेदीयमन्त्रेषु आंशिकं साम्यमस्ति । क्वचित् पाठभेद, क्वचित् पादव्यत्ययः क्वचित् अपूर्णा ऋचा वर्तते । यदि एता ऋचः ऋग्वेदतः सङ्गृहीताः सन्ति तर्हि

पाठभेदोऽत्र न भवेत्। यथा-अपो महि व्ययति (ऋक्. ७/८१/१) इति ऋग्वेदस्य पाठः। सामवेदे अपो मही वृणुते ३०३ इति पाठः। ऋग्वेदे अरं वहन्ति मन्यवे (ऋक्. ६/६/४३) इति पाठो वर्तते। सामवेदे अरं वहन्त्याशवः इति पाठो वर्तते। अनेन सिध्यति यत्कथमपि सामवेदो न ऋग्वेदान्तर्गतः। क्वचिद् वर्तनी अपि भिन्नाऽस्ति। तद्यथा-इदं विष्णुः... पांसुरे (ऋक्. १/२२/१७) इति मन्त्रः ऋग्वेदे वर्तते। सामवेदे च पांसुरे इत्यस्य स्थाने पांसुले इति वर्तनीभेदोऽपि वर्तते। एवम् ऋग्वेदेन सह सामवेदस्य केवलमाशिकं साम्यं वर्तते न तु पूर्णतः। यदि सामवेदस्य मन्त्रा ऋग्वेदत एव उद्धृताः स्युः चेत् सर्वथाऽशंतो वा ऋग्वेदक्रमेण कथं न सन्ति। सर्वथाऽपि सामवेदे क्रमभङ्गो वर्तते। ऋग्वेदस्य सामवेदस्य च स्वराङ्कनेऽपि पूर्णतया भेदोऽस्ति। ऋग्वेदस्य मन्त्रा द्रुतगत्या सामवेदस्य च विलम्बितगत्या उच्चार्यन्ते। एवं द्वयोरपि वेदयोरुच्चारणभिन्नताऽपि वर्तते। सामवेदे तु ऋग्वेदात् मौलिकभेदो वर्तते। ये मन्त्रा ऋग्वेदे सन्ति, तेषां मन्त्राणां क्वचित् देवताऽपि भिन्नाऽस्ति। देवताभिन्नत्वे सति अर्थविभिन्नता स्वयमेव भवति। यतोहि मन्त्रप्रतिपाद्यविषयो देवता। सामवेदस्य ऋग्वेदस्य च विभाजनपद्धतिरपि पृथक् अस्ति। ऋग्वेदे मण्डलानि सूक्तानि सन्ति। सामवेदे काण्डानि, अध्यायाः दशतयश्च सन्ति। द्वयोरपि वेदयोः विषयवस्तु भिन्नं वर्तते। ये पौराणिकाः सन्ति, ते स्वपद्धतेरनुसारं यत् स्वस्तिवाचनं शान्तिकरणं पठन्ति, तस्मिन् स्वस्तिवाचने शान्तिकरणे च सामवेदस्य मन्त्रा न सन्ति, परन्तु महर्षि दयानन्देन संस्कारविधौ स्वस्तिवाचने सामवेदस्य मन्त्रद्वयं शान्तिकरणे च एकं मन्त्रं विलिख्य निश्चितमेव सामवेदस्य पृथक् सत्ता स्वीकृता। अनेन उपर्युक्तप्रमाणेन व्यक्तवाचा सिध्यति यत् वेदेषु सामवेदस्य पृथक् स्वतन्त्रसत्ता विद्यते। नायं वेद ऋग्वेदाश्रितः। स्वयमेवासौ प्राचीनसामवेदीयशाखासु आश्रित इति नास्ति शङ्कापङ्कास्पदम्।

# साम-तत्त्वम्

- आचार्य बृहस्पति निगमालंकार

सुविदितमेव तत्रभवतां ज्ञानोपासनमहाव्रतानां विपश्चिदप-पश्चिमानां यद्खिलेऽपि विश्वब्रह्माण्डे ज्ञानविज्ञानस्य येऽपि क्रिया-कलापाः दरीदृश्यन्ते याश्च किल प्रवृत्तयः प्रसरन्ति तत्र सर्वत्र ज्ञानविज्ञान-स्याधारभूता भगवती श्रुतिरेव हेतुत्वेनावगम्यते। उक्तञ्च भगवता व्यासेन महाभारते-

**"अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा**
**आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृत्तयः ॥"**

सर्गारम्भे मानवसृष्टेः समकालमेव समस्त-जागतिकव्यवहार-सिद्धये परमकारुणिकेन परमेश्वरेण स्वकीयामृतकल्पेभ्यः प्रियेपुत्रेभ्यो वेदस्य पवित्र-ज्ञानं सदयं प्रणोदितम्। वेदस्तु एक एव, स च पश्चात् काले संहितारुपेण विभक्ताश्चतुष्टयत्वमापन्नो विभाति। विज्ञान कर्मोपासना ज्ञानकाण्डभेदाच्चत्वारो वेदविभागाः विहिताः। ऋग्यजुः-सामाथर्वभेदात् - **"ऋग्भिर्ऋचन्ति स्तुवन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिर्गायन्ति, थर्वतिश्च-रतिकर्मा तत्प्रतिषेधः, अथर्वेति।"** नि.११-१९-१ यज्ञादि-कर्मकाण्डेषु सौकर्य्यार्थमेतदपि विधानमव-लोक्यते-होत्रे ऋग्वेदः, आध्वर्यवे यजुर्वेदः, औद्गात्रे सामवेदः, तथैवब्रह्मत्वायाथर्व-वेदः।

अत्रास्माभिः प्रयोजनवशात् केवलं सामवेद-विषयकं तत्त्वजातं विचारयिष्यते। भगवता श्रीकृष्णेन श्रीमद्भगवत्गीतायां-स्वविभूति-प्रख्यापन प्रसङ्गे-**'वेदानां सामवेदोऽस्मि' बृहत्साम तथासाम्नां'** इत्युक्त्वा साम्नो महिमा मुक्तकण्ठेनागीयत। बृहद्देवतायामपि निगद्यते-**'सामानि यो वेद स वेद तत्त्वम्'** सामवेदेऽपि खलु-

**ऋचं सामं यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते।**
**वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षथः ॥**

**'सामानि यस्य लोमानि'** इत्यादिभिः भगवती श्रुतिरपि सामवेदस्य प्रामुख्यं सुतरां प्रकटयतितराम्। अस्मिन् विषये महर्षिः दयानन्दः स्वकीय-

ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां वेद-विषय विचारप्रसङ्गे स्पष्टयति-**'तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात् ॥**

द्वितीयतः-**'गीतिषु सामाख्या'** अतो गान-संवलितै मंन्त्रैः यज्ञयागादिषु उद्गातृभिःगीयमानत्वादेव सामवेद उच्यते। बृहदारण्यकोपनिषदि तूक्तम्-
**'सा च अमश्चेति तत् साम्नः सामत्त्वम्'।**
**सा ऋक् तया सह सम्बन्धः अमो नाम स्वरो यत्र वर्त्तते तत् साम'।**

**'सा'** इति ऋग्वेदस्य ऋचः, **'अम्'** इति षडजादयः सप्तस्वराः। यदा खलु ऋग्भिःसह षडजादयः स्वराः संगच्छन्ते तदा 'साम' इत्यभिधीयते। सामवेदस्य १८७५ पञ्चसप्तत्युत्तराष्टादशशतात्मकेषु मन्त्रेषु ७५ पञ्चसप्ततिसंख्यकाः सामसम्बन्धिनो नवीनाःमन्त्राः सन्तीतरे सर्वेऽपि मन्त्राः ऋग्वेदात् संगृहीताः। एता एव ऋचःसामयोनित्वेन परिचियन्ते। एतेषां साम्नामाधारेण भारतीय संगीत शास्त्रस्य विकासो विभाव्यते। आनन्दातिरेकस्य मूर्त्तरूपं खलु संगीतम्। आनन्दादृते संगीतस्य कल्पना तु मनागपि न सम्भवति। यदा ह वै कवेः हृदयान्तरिक्षादानन्द-झरो निर्झरति स एव संगीतरूपेण विपरिणमते। तथैव ऋषीणां हृदयान्तरिक्षाद् यदावतरति-तदा स एव आनन्दातिरेको झरः 'ऋचा' सम्पद्यते। **'दिवो दुहिता'** इत्येतदपि सर्वथा सार्थकतां भजते।

अनेनायमभिप्रायोऽभिलक्ष्यते यत् संगीत-माध्यमेनानन्दमयीं काम-पिलोकोत्तराम् ब्राह्मीस्थितिं समाधिम् समधिगन्तुं शक्यते। तस्मादात्मपरात्मनोः साक्षात्कारे साम्नाम् बहुविधमुपयोगित्वमिति विदांकुर्वन्तु निगमागमपारदृश्वानो विद्वांसः। उक्तञ्च केनापि कविना-

**नान्यत् गीतात् प्रियं लोके देवानामपि दृश्यते।**
**शुष्कस्नायुः स्वराह्लादात् त्र्यक्षं जग्राह रावणः।**

तत्र शब्दशास्त्रपारावारपारिणा महर्षि पतञ्जलिना शब्द प्रयोग-विषयान् परिगणयतोक्तम्-**'सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः'** सामवेदस्य सहस्त्र-परिमिताः शाखाः अवर्त्तन्त। **'कालस्य कुटिलागतिः'** सम्प्रति अस्माकं दुर्भागधेयात् कराल कालस्य गर्भसमाहिता-तिस्त्र एवलोकलोचन-मायान्ति-कौथुमीयः,

राणायनीयः, जैमिनीयश्च । अनेनानुमीयते पुरा सामगाः भूयिष्ठां गानसरणि-मनुसृत्य परमात्मानमाराधयितुममन्दानन्द-सन्दोहम् वाऽवाप्तुं सामगानं विदधति स्म । सामोपासनायाः नैकशः वर्त्मनि पद्धतयःपरम्पराश्च किल व्यलसन् । वस्तुतस्तु विचार्यमाणे गान विद्याया इयत्ता न विद्यते । अत एव मृदूपहास-पुरस्सरं केनापि कान्तदर्शिनोक्तम्-

**गानाब्धेस्तु परं पारं नैव याता सरस्वती ।**
**अतो निमज्जनभयात् तुम्बीं वहति वक्षसि ॥**

भूयोऽपि सामगानस्य केचन विधयः समुल्लिख्यन्ते । ये खलु सामगान प्रसङ्गे सविशेषं स्मर्यन्ते । यथा-अष्टौभावाः-विकार, विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम, स्तोम, आगम, लोपाः । पञ्चभक्तयः-प्रस्ताव, उदगीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधनानिभक्तयः ।

**ओङ्कारहिङ्काराभ्याम् सप्तविध्यम् ।** पञ्चविधःसूत्रम्-प्र.१क.१

ओङ्कारहिङ्कारौ सम्मेल्य स्थलविशेष सप्त भवन्ति । छान्दोग्योप-निषदः द्वितीयप्रपाठकेऽस्य प्राञ्जलं वर्णनमक्षिलक्ष्यी कर्तुम् शक्यते ।

**नवस्तोमाः** - सामसु स्तोमानां महन्महत्त्वमनस्वीकार्य्यम् सोमयागादिषु गीयमानत्वात् । **सामगानस्यभेदाः**-ग्रामगानं (गेयगानं) अरण्यगानं, ऊहगानं ऊह्यगानञ्च । ग्रामगानं ग्रामेषु अरण्यगानमरण्येषु च गीयेते । ऊहगानं ग्रामन्तर्गतं ऊह्यगानञ्चारण्यान्तर्गतं वर्त्तेते ।

आर्षग्रन्थानामनुशीलनेन सार्द्धद्विसहस्राधिकानि समागानानि समुपलभ्यन्ते परं तेषु दश एव गानानि सुप्रसिद्धानि । यथा-रथन्तरं, बृहत्, वैरुप्यं, वैराजं, शाम्वरं, रैवतं, वामदैव्यं, यज्ञायज्ञियं, राजञ्चेति ।

तत्र भगवता महर्षिणा दयानन्द स्वामिना संस्करविधौ गर्भाधाना-दारभ्य संन्यास पर्यन्तं प्रतिसंस्कारान्तं महावामदेव्यगानस्य विधानं विहितम् एतदेव मांगलिकशान्तिकरणरूपेण समुद्दिष्टम् । किं बहुना? सामोपसनया मानवोऽन्तःकरणमलीकृत्य नूनं पराम् शान्तिं समधिगन्तुं प्रभवतीत्यत्र नास्ति कोऽपि सन्देहस्यावकाशः । विस्तरभिया विरम्यते । अयञ्च निधीयते विद्वत् सन्निधौ मौलौ प्रणामाञ्जलिः । इत्योम् ।

गुरुकल नव प्रभात वैदिक विद्यापीठ
नुआपालि, पो-कनसिंहा, जि-वरगड, ओडिशा

# 'साम्नः सामत्वम्'

**आचार्य वेदप्रकाश श्रोत्रिय-दिल्ली**

पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि अठारह सौ पचहत्तर मन्त्रों में केवल बहत्तर मन्त्र ही सामवेद के हैं। शेष मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं। सामवेद में उनका संग्रहमात्र है।

हम इस तथ्य की परीक्षा करना चाहते हैं कि वास्तविकता क्या है? वे मन्त्र सामवेद के अथवा ऋग्वेद के हैं। एतदर्थ हम ऋग्वेद के कुछ ऐसे मन्त्र प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वेद के समय में भी सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता वर्तमान है। यथा-

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। ऋ. १०/९०/९

यो जागार तमु सामानि यन्ति। ऋ. ५/४४/१४

यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्। ऋ. १०/१०७/६

श्रवत्साम गीयमानम्। ऋ. ८/८१/५

अङ्गरिसां सामभिः स्तूयमानाः। ऋ. १/१०७/२

अर्चत्त एके महि साम मन्वत। ऋ. १०/३६/५

इन मन्त्र पदों से यह निर्भ्रान्त सिद्ध है कि ऋग्वेद के समय में ही सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता है, नहीं तो सामानि, सामगाम्, साम सामभिः इन पदों का क्या प्रयोग प्रयोजन है। इतना ही नहीं गायत्रम्, त्रैष्टुभम्, जागतम्, बृहत्, रथन्तरम् इत्यादि विशेष गानों के नाम भी है।

इन प्रमाणों के रहते यह कहने का साहस कोई नहीं कर सकता कि सामवेद ऋग्वेद के मन्त्रों का संग्रह मात्र है। अथवा 'दुनियाँ की लाइब्रेरी में सबसे प्रथम ऋग्वेद ही है, इन दोनों भ्रष्ट मान्यताओं का समूल खण्डन हो जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जितना प्राचीन ऋग्वेद है उतना ही सामवेद।

**ऋग्वेद और भाषा विज्ञान :-** भाषा विज्ञान के आधार पर पाश्चात्य और तदनुवर्ती विद्वान् यह कहते हैं कि 'ऋग्वेद की भाषा ही कुछ ऐसी पुरानी

और जटिल है जिससे विवश होकर कहना पड़ता है कि सब वेदों में पुराना ऋग्वेद है। इस विषयक भाषा विज्ञानियों का सिद्धान्त है कि जहाँ तक कृत्रिमता का सम्बन्ध है वे सब पद, वाक्य या मन्त्र नए हैं और जहाँ तक स्वाभाविकता का सम्बन्ध है वे सब पद, वाक्य और पुराने हैं। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार ऋग्वेद पुराना और सामवेद पुराना है यह उक्ति कहाँ तक सत्य है? कुछ सामवेद और ऋग्वेद पाठ तुलनात्मक दृष्टि रखकर देखते हैं।

| | **सामवेद** | **ऋग्वेद** |
|---|---|---|
| १. | आसीदतु वर्हिषो मित्रो | आसीदत्तु बर्हिषो मित्रो |
| २. | शुक्रावियत्तु ५५१ | शुक्रा वयन्तु |
| ३. | सुतः सुदक्ष धनिव ५७४ | सुतः सुदक्ष घन्व |
| ४. | दिविसद् ६७२ | दिविषद् |
| ५. | ये माणः ७०२ | ये मानः। ९/७५/३ |
| ६. | विराजसे ७०२ | विराजति। ९/७५/३ |
| ७. | सुद्रुवम् २३८ | सुद्रवम्। ७/३२/१० |

सामवेद और ऋग्वेद में पाठभेद स्पष्ट प्रतीत हैं।

प्रथम मन्त्रांश में 'आसीदतु' साम पाठ में एकवचन की जगह बहुवचन होना चाहिए था-सो ऋग्वेद में है। यह साम का पाठ तब का है, जब एकवचन और बहुवचन का विचार भी नहीं था। इसी प्रकार साम के नियत्तु का अर्थ भाष्यकारों ने वयत्तु ही किया है अतः ऋग्वेद में वयत्तु ही पाठ है। ये माणः इस साम पाठ में भी वही बात है कि उस समय 'न' और 'ण' का ज्ञान न ही था। अयुक्त सामपाठ को ऋग्वेद में ठीक कर दिया गया। धनिव साम पाठ-धातुपाठ की दृष्टि से धन्व होना चाहिए जो बाद में ऋग्वेद में धन्व कर दिया गया।

दिविसद् साम पाठ मे भी दन्त सकार पाठ गलत होने के कारण व्याकरणानुसार मूर्धन्य षकार कर दिया गया। उस समय कौन सा सकार होना चाहिए था, यह ज्ञान ही नहीं था।

साम के 'विराजसे' पाठ पर दृष्टि डालने से यही प्रतीत होता है कि प्रथम पुरुष का पाठ ही युक्तियुक्त है जो ऋग्वेद में उपलब्ध है। इसी प्रकार सुद्रवम् यह पाठ साम का उच्चारण की दृष्टि से सीधा और सरल है, इसलिए अकृत्रिम है किन्तु ऋक् पाठ में सीधा यण् कर दिया गया जो व्याकरण की आंख से अच्छा लगता है।

इन पाठों के विवेचन से तो यह निष्कर्ष निकलता है कि सामवेद पुराना है और ऋग्वेद नया है। यदि भाषा वैज्ञानिकों का यह सिद्धान्त सही है तो ! नब्बे प्रतिशत पाठ लगभग ऐसे ही जो ऊपर ऋग्वेद और सामवेद सम्बन्ध में प्रदर्शित किए गये है।

अब इसके विपरीत कुछ ऐसे ऋग्वेद के भी पाठ हैं जो साम से पुराने लगते हैं।

| | ऋग्वेद | सामवेद |
|---|---|---|
| १. | पवाते ९/९७/४ | पवताम् ५३५ |
| २. | सीदति ९/९७/४ | सीदताम् ५३५ |
| ३. | ऋता ९/८७/३७ | ऋतम् १३५७ |
| ४. | दीपति ९/३/१ | दीपते १२५६ |

ये स्थाली पुलाक न्याय से केवल चार ही उदाहरण उपस्थित किए हैं। न्याय की तुला पर तौलने से ऐसा लगता है कि ऋग्वेद के पाठों का अर्थ ही साम कर रहे हैं। जब ऋग्वेद में आये हुए पदों का ही वे साम के पद अर्थ कर रहे हैं तब तो किसी प्रकार का संदेह करने का अवकाश ही नहीं मिलता कि साम के पाठ नये तथा ऋक् के पाठ पुराने नहीं है

इस प्रकार दोनों वेदों के पाठों की तुला पर रखकर तुलना की तो यह मालूम हुआ कि इस प्रकार के एकाङ्गी विचारों के आधार पर कोई विचारक अपना दृष्टिकोण स्थिर करे तो वह धोखा जैसे सामवेद के मन्त्रों के ऊपर जो १/२/३ इस प्रकार के अंक पाये जाते है, यही उदात्त स्वरित और अनुदात्त

के संकेत हैं। अर्थात् एक का अंक उदात्त, दो स्वरित तथा तीन का अंक अनुदात्त को रहता है। ऋग्वेद में 'इन्द्रो भदाय' इत्यादि मन्त्रों के ऊपर तथा नीचे दो प्रकार की लकीरें दीखती हैं। ऊपर की स्वरित तथा नीचे की अनुदात्त लकीरें हैं, उदात्त का चिन्ह कोई नहीं है।

अब हम सामवेद के और ऋग्वेद प्रारम्भ से प्रथम पांच मन्त्र लेते हैं फिर ऋग्वेद के मन्त्रों से तुलना करने पर यह बात समझ में आ जायेगी कि इन दोनों में स्वर भेद कैसे है।

| | **सामवेद** | **ऋग्वेद** |
|---|---|---|
| १. | अग्नि आयाहि | अग्र आयाहि ६/१६/१० |
| २. | त्वमग्ने यज्ञानाम् | त्वमग्ने यज्ञानाम् ६/१६/१ |
| ३. | अग्निं दूतम् | अग्निं दूतम् १/१२/१ |
| ४. | अग्निर्वृत्राणि | अग्निर्वृत्राणि ६/१६/३४ |
| ५. | अग्नेरथन्ने वेद्यम् | अग्निं रथन्न वेद्यम् ८/४/१ |

स्पष्टीकरण

१. सामवेद के 'अग्ने' पद के ऊपर स्वरित का चिन्ह है जबकि ऋग्वेद के 'अग्ने' पद के अकार पर स्वरित का चिह्न नहीं है।

२. दूसरे मन्त्र के 'यज्ञानाम्' इस पद के 'ज्ञा' पर सामवेद में स्वरित का चिन्ह है जबकि ऋग्वेद के मन्त्र के 'ज्ञा' पर कोई चिन्ह नहीं है। इसलिए ऋग्वेद में यह अक्षर उदात्त है और साम में स्वरित है।

३. साम के 'अग्निम्' पद के 'ग्नि' पर स्वरित का चिन्ह है जबकि ऋक् के 'ग्नि' पर चिन्ह रहित होने से उदात्त हैं।

४. चौथे मन्त्र के 'अग्नि' पद के 'ग्नि' पर साम में स्वरित है जबकि ऋक् में वह उदात्त है।

५. सामवेद में 'अग्ने' पद सम्बोधन है। ऋग्वेद में द्वितीयात्त है।

अतः इस प्रकार के विचार भ्रात्त तथा अनुशीलन करने योग्य नहीं हैं।

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि दोनों वेदों के पाठ पुराने और समकालीन है तो फिर पाश्चात्य विद्वान् तथा उनको गुरु मानकर चलने वाले भारतीय विद्वानों ने यह साहस कैसे किया है कि दुनियां की लाइब्रेरी में सबसे प्रथम पुस्तक ऋग्वेद है ? हमारा यह विश्वास है कि इन महानुभावों ने कभी भी सामवेद पढ़ने का कष्ट ही नहीं किया है। पढ़ा है तो शाब्दिक दृष्टि से पढ़ा है समझने की चेष्टा नहीं की है। अथवा इसकी गहनता ही समझ में नहीं आई।

अब हम भाषा भेद से सामवेद की भिन्नता सिद्ध करने के पश्चात् दूसरी दृष्टि से सामवेद ऋग्वेद से भिन्न है, विचार करते है, वह है दोनों वेदों का स्वर भेद। जो एकदम सम्पूर्ण ऋग्वेद से जो दशमण्डलों में विद्यमान है तथा सामवेद का जो पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक रूप से दो भागों में विभक्त है। एकदम पृथक् करती है अथवा यों कह सकते हैं जो सामवेद और ऋग्वेद का सम्पर्क भी अलग करता है। यह प्रयास केवल विद्वानों के विचारार्थ प्रस्तुत है।

आप सब जानते है कि **स्वरभेद, अर्थभेद का नियामक है। अब इस विषय पर कोई मतभेद नहीं है। सिद्ध होने में ही जरा सा भी सन्देह नहीं रह जाता है।**

कुछ लोगों का विचार है कि दोनों वेदों में स्वरभेद नहीं है। लेकिन अभीतक वे बिचारे यह नहीं जान पाए वा सोचा भी नहीं होगा कि दोनों वेदों में स्वरभेद भी है। ऐसे अभिज्ञ विद्वानों की बुद्धियाँ जल्दी सुधर जावें तो अच्छा है, अन्यथा अति अनिष्टकारी ही है।

उदाहरण प्रस्तुत करने से पहले कुछ जान लेना आवश्यक है जो विषय के ज्ञान में सहायक हो सके। इस प्रकार दोनों वेदों में स्वरों का महान् भेद है। स्वरभेद होने से अर्थभेद है और अर्थभेद होने से विषयभेद एवं स्वातन्त्र्य भेद भी स्वतः सिद्ध है। ऐसी अवस्था में यह कहना कि सामवेद केवल ऋग्वेद का संग्रहमात्र है, कितनी भयंकर भूल है। यह स्वरभेद नहीं मानने से हुई भूल है। जो अमान्य है।

विशेष ध्यातव्य यह है कि 'अग्ने रथन्नवेद्यम्' जो पांचवाँ उदाहरण है- जब सामवेद में देखते है तो सम्बोधनान्त अग्न पद का अर्थ होगा 'हे अग्ने' तथा ऋग्वेद 'अग्निं' द्वितीयात्त पद का अर्थ होगा 'अग्नि को'। अब सोचिए 'हे अग्ने' और 'अग्नि को' दोनों अर्थ समान नहीं हो सकते। एक पद प्रत्यक्ष अर्थ की अनुभूति कर रहा है तो द्वितीय परोक्ष अर्थ की ओर संकेत कर रहा है अब भी अटक से कटक की दूरी की तरह भेद प्रतीत होने पर भी कोई मस्तिष्क की गुलामी से इस अर्थ भेद को देख नहीं पाये तो इसमें मन्त्रदोष तो है नहीं।

**परिणाम**

हमने उपरोक्त विवेचना से यह सिद्ध कर दिया है कि विषय, पाठ, भाषा, स्वरभेद से सामवेद के १८७५ मन्त्र अपने आप में स्वतन्त्र हैं। फिर भी कुछ लोग युक्त्याभास से कहते है कि 'ऋच्यध्यूढं साम गीयते' अर्थात् ऋग्वेद के आश्रय से ही सामवेद की सत्ता है। पैनी दृष्टि से यदि देखें तो यह कथन भी निर्मूल है, विश्वास योग्य नहीं है।

सर्वप्रथम हम यह देखेते हैं कि ऋचा क्या है ?

सात्रऋक्-मन्त्रार्थवशेन पादव्यवस्था। २/१/३५ मीमांसा अर्थात् अर्थ के आधीन जिसके पाद की व्यवस्था की जाए, वह ऋचा है। भाव यह है कि छन्दोबद्ध मन्त्र ऋचा है। गानविद्या के जानने वाले जानते हैं कि गान पद्य में ही होता है, गद्य रूप में नहीं। जब गान है तो उसका पद्य से सम्बन्ध तो होगा ही।

सामवेद के 'गाये सहस्त्रवर्त्मनि' मन्त्र के आधार पर शबर स्वामी ने साम के सम्बन्ध में अपने विचार करते हुए लिखा है कि-''सामवेदे सहस्त्रगीत्युपायाः। आह, कतमेते गीत्युपाया नाम? गीतिर्नाम क्रिया आभ्यन्तरप्रयत्नजन्या स्वर विशेषेणामभिव्यञ्जिक साम शब्दाभिलप्या। सा नियत प्रमाणायां ऋचि।

अर्थात् सामवेद में एक हजार गान के उपाय हैं। प्रश्न-वे कौन हैं ?

उत्तर-भीतरी प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली और विशेष स्वरों का प्रकाश करने वाली गीति या गान ही साम और वह नियत या पादबद्ध अथवा छन्दोबद्ध ऋचा में ही उत्पन्न होता है अथवा उसी से बनता है। शबर स्वामी के शब्दों से यह बात स्पष्ट हो गई कि सामगान छन्दोबद्ध ऋचाओं से बनते हैं न कि ऋग्वेद से। ऋग्वेद और चीज है और ऋचाएं भिन्न वस्तु है। छन्द और गान का नित्य सम्बन्ध है। इसलिए गान भी गाने योग्य मन्त्रों से ही बन सकते हैं।

प्रश्न है कि सामवेद क्या है? तो छान्दोग्य उत्तर देता है कि या ऋक् तत्साम (छ.उ. १/३/४) जो ऋचा है वह साम है। और ऋचा वाणी का रस है, ऋचा का साम रस है और साम का उद्गीथ रस है। कहा भी है-''वाचः ऋग्रसः ऋचः सामरसः, साम्नः उद्गीथो रसः (छा.उ. १/१/२) ऋचा और साम सम्बन्ध अथर्व. १४/२/९, एतरेय ब्रा. ८/२९, बृ.उ. ६/४/२० में इस प्रकार कहा है-

अमोऽहमस्मि सा त्वं, सामाहमस्मि ऋक् त्वं, द्यौ रहं पृथिवी त्वं ताविह ...... प्रजामाप्रजनयावहै।

अर्थात् मैं अम संज्ञक पति रूप हूँ। तुम ऋग्रूपा पत्नी हो। अर्थात् दोनों का दम्पतित्व विद्यमान है। बृहदारण्यक उपनिषद् १/३/२२ में निर्वचन भी दर्शाया गया है-यथा

सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् (बृ.उ.) अर्थात् सा नाम ऋक् तथा सह सम्बद्धः अमो नाम स्वरः षडजर्षमादि तान रूपो यच वर्तते, तत्सामेति। अर्थात् सा नाम ऋचा है, उस ऋचा के जो आम= स्वर सम्बद्ध है, गाने के लिए वही साम है, साम का विशेषत्व उसके गान रूप से ही सूचित होता है, साम का स्वर ही उसका निज रूप है। वह भी है-

तस्य है तस्य साम्नो यः स्वं वेद, भवति हास्य स्वं, तस्य स्वर एव स्वम्। (बृ.उ. १/३/२५)। साम का स्वरमण्डल तथा है यह नारद बोलता है।

सप्त स्वराः, त्रयो ग्रामाः, मूर्च्छनास्त्वेकविंशति। ताना एकोन-पञ्चशित्,

इत्येतत्स्वरमण्डलम्। (नारदीय शिक्षा)

अब यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि सामवेद के १८७५ मन्त्र ही है। जो लोग यह कहते है कि ऋग्वेद का संग्रह मात्र है, उसका तो निराकरण किया जा चुका है।

अब द्वितीय दोष और आरोपित हो जाता है कि कुछ मन्त्र पुनरुक्त है केवल आवृत्ति मात्र है, उनका दूसरा अभिप्राय हो ही नहीं सकता। इस विचार का दुष्परिणाम यह सामने आया कि ७२ मन्त्रों का सामवेद प्रकाशित हुआ। इस विषय में एक ही प्रबल प्रमाण देकर पुनरुक्त दोष आरोपित करने वालों का समाधान कर देना चाहते है। वैयाकरण जानते हैं कि पाणिनि ने एक ही सूत्र लिखा है जिसके आकार प्रकार अक्षर या मात्रा में जरा सा भी भेद नहीं है-यथा बहुलं छन्दसि। यह सूत्र अष्टाध्यायी में २/४/७३, ५/२/१२२, ७/१/८, ७/१/१०३, ७/४/७८, २/४/३९, ३/२/८८, ९/१/३४, ७/१/१०, ७/३/९७ में प्रयोग हुआ है।

ऋषि ने इन सूत्रों को भिन्न भिन्न अर्थ की सिद्धि के प्रयोजन से बनाया है-जैसें २/४/३९ का सूत्र वेद में विकल्प से अद् धातु धस्लृ आदेश करता है। २/४/७३ का सूत्र अदादि गण के नियम से प्राप्त शप् के लुक् का परिवर्तन कर देता है। २/४/७६ का सूत्र जुहोत्यादि गण के श्लु के नियम का परिवर्तन कर देता है। ३/२/८८ का सूत्र क्विप् प्रत्यय के नियम का परिवर्तन करता है। ५/२/१२२ का सूत्र विति प्रत्यय के नियम का परिवर्तन कर देता है। इस प्रकार सूत्र एक है फिर भी इनके अर्थ और प्रयोजन भिन्न-भिन्न हैं।

अब कल्पना कीजिए इनमें से एक सूत्र को छोड़कर शेष सब सूत्रों को अष्टाध्यायी में से छांटकर निकाल दें तो कितनी भयंकर भूल होगी। मित्रों उससे कहीं अधिक मूल सामवेद के मन्त्रों को निकाल देनी ही होगी। अथवा यह कहकर कि इन मन्त्रों के अर्थ हो चुके हैं अतः महत्त्व ही न है। अतः इस प्रकार के संदेह या प्रयत्न होने अविद्या देवी की कृपा का परिणाम है।

# सामवेद की शाखा

**- आचार्य अमरदेव मीमांसक**

वैदिक वाङ्मय में सामवेद का विशिष्ट स्थान है। **'वेदानां सामवेदोऽस्मि'**[१] कहते हुए भगवान कृष्ण ने सामवेद को अपनी विभूति प्रकट किया है। बृहद् देवता में भगवान शौनक कहते है-**'सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्'** अर्थात् जो पुरुष सामवेद को जानता है वही वेद के तत्त्व का ज्ञाता होता है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी साम का महत्त्व प्रतिपादित है। ऋग्वेद कहता है कि जो व्यक्ति जागरणशील है उसी को साम की प्राप्ति है **(यो जागार तमु सामानि यन्ति)**[२]। अथर्ववेद में साम को परब्रह्म का लोमभूत माना गया है, **'सामानि यस्य लोमानि'**[३]। इस प्रकार साम गायन की परम्परा विद्यमान रही है। उस समय यज्ञानुष्ठान में ऋत्विज उच्च स्वर से साम गायन करते थे। यही साम-गायन संगीतशास्त्र की आधारशिला है।

इन सब वचनों से वैदिक संहिताओं में साम का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। 'साम' शब्द सम, पूर्वक मानार्थक 'माङ्माने शब्देच', षो अन्त कर्मणि', 'मन ज्ञाने' 'मनु अव बोधने' इन चार धातुओं से निष्पन्न होता है।

साम का अर्थ है गायन, ऋचाएँ जब विशिष्ट गान-पद्धति से गायी जाती है तो उसे साम कहते हैं। जैमिनीय सूत्र में गीति को ही साम की संज्ञा प्रदान की गई है **'गीतिषु सामाख्या'**[४] बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है-**सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्'**। अर्थात् 'सो शब्द का अर्थ ऋचा और अम का अर्थ है गान्धार आदि स्वर। अतः ऋचा और गायन स्वर इन दोनों की जोड़ी मिलकर साम कहलाती है। ऋचा पत्नी है और स्वर पति यथा-**'सामऽहमस्मि ऋक्त्वं'** इन दोनो की सन्तान ही विश्व में फैली विविध राग रागनियां है जो अपनी रमणीयता और आह्लादकता द्वारा जनजन के मानस को आप्यायित करती हैं तथा मानसिक दुःख अशान्ति आदि को दूर करती है।

छान्दोग्योपनिषद् में बताया गया है कि वाणी का व्यवहार ऋक् में निहित है और ऋक् का सार साम में सन्निविष्ट है। यदि वाणी ऋक् है तो साम उसका प्राण है, साम की गति स्वरों में निर्दिष्ट हुआ करती है, स्वर ही साम का सर्वस्व है, प्रधान अङ्ग है, **का साम्नो गतिरिति। स्वर इति हो वाच।**[६]

इस प्रकार विशिष्ट स्वरों के सन्निवेश का नाम साम है। साम का अर्थ गान है पर स्वराधिष्ठान के रूप में जब इसका सम्बन्ध ऋचाओं से होता है तब वह गेय का बोधक होता है। साम शब्द वस्तुतः गान का द्योतक है। इसीलिए ऋग्वेद के समस्त गेयमन्त्रों के लिए 'साम' शब्द का प्रयोग होने लगा। जिन ऋचाओं के ऊपर ये साम गाये जाते थे उनको 'सामयोनि' नाम से अभिहित किया जाता है[७]। सामवेद इन्ही सामयोनि ऋचाओं का संग्रह है। इसमें केवल उन्हीं मन्त्रों का संग्रह है जिनका गान सोमयाग में विहित है।

सामवेद उद्गाता का वेद है। उद्गाता का कार्य होता है यज्ञ में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ऋचाओं का गान करना। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि सामगान से रहित यज्ञ वस्तुतः यज्ञ कहलाने का अधिकारी नहीं हैं- **'नासामयज्ञो भवति'**। इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक यज्ञ की सर्वाङ्गपूर्ति के लिए भारत में प्रारम्भिक काल से ही सामगान की प्रथा रही है। सामवेद का उपवेद ही गन्धर्ववेद है जिससे कि गान विद्या का प्रसार भूमण्डल में हुआ, इसी से १६ हजार राग रागनियां निकली जिनका कि वर्णन उत्तरवर्ती संस्कृत तथा लोकभाषा साहित्य में पाया जाता है।

पतञ्जलि ने सामवेद की एक हजार शाखाओं का उल्लेख किया है। **'सहस्त्रवर्त्मा सामवेद'**[८]। पुराण भी एक हजार शाखाओं का उल्लेख करते हैं। बोद्धग्रन्थ दिव्यावदान में सामवेद के एक हजार अस्सी (१०८०) शाखाओं का उल्लेख हैं। **'सा शीतिसहस्त्रधा भिन्ना'**[९]। शौनक चरणव्यूह के अनुसार सामवेद की एक हजार शाखाएँ थी, किन्तु इनमें से अनेक अनध्याय के दिन पढ़े जाने से इन्द्र के द्वारा बजू-प्रहार से नष्ट कर दिये गये **'साम वेदस्य किल**

**सहस्त्रभेदा भवन्ति। एष्वन- ध्यायेष्वधीयानास्ते शतक्रतु वज्रेणाभिहताः।** जैमिनि गृह्यसूत्र में तर्पण प्रकरण में तेरह आचार्यों के नाम उपलब्ध है-जैमिनि, तलबकार सात्यमुग्र, राणायनि दुर्वासस्, भागुरि, गौरुण्डि, गौगुलवि औपमन्यव, कारडि, सावर्णि, गार्ग्यवार्षगण्य और दैवन्त्य[१०]। किन्तु इनमें से केवल तीन आचार्यों की शाखाएँ सम्प्रति उपलब्ध है-कौथुमीय, रणायनीय और जैमिनीय ।

पुराणों के अनुसार महर्षि वेदव्यास ने अपने शिष्य जैमिनि को सामवेद पढ़ाया था। **सामगो जैमिनिः कविः**। अतः उन्हें साम का आद्याचार्य कहा जाता है। जैमिनि ने पुत्र सुमन्त को सामवेद पढ़ाया। उसने अपने पुत्र सुत्वा को वही वेद पढ़ाया। सुत्वा ने अपने पुत्र सुकर्मा को उसी वेद की शिक्षा दी। सुकर्मा ने उसकी एक हजार संहिताएं बनाई। उसके अनेक शिष्य उन्हे पढ़ने लगे। पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि जिस देश में सामग लोग पाठ करते थे, वहां कोई इन्द्र प्रकोप हुआ अर्थात् कोई भूकम्प आदि आया। उसमें सुकर्मा के शिष्य और उनके साथ वे शाखाएं भी नष्ट हो गयी। तदनन्तर सुकर्मा के दो बड़े प्रतापी महाप्राज्ञ शिष्य हुए। एक का नाम था पौष्पिंजी और दूसरे का नाम हिरण्यनाभ कौसल्य। पौष्पिजी ने ५०० संहिताएं प्रवचन की। उनके पढने वाले उदीच्य अर्थात् उत्तरीय सामग कहाते थे। इसी प्रकार कोसल के राजा हिरण्यनाभ ने भी ५०० संहिताओं का प्रवचन किया। इनको पढ़नेवाले प्राच्य अर्थात् पूर्व दिशा में रहने वाले सामग कहाते थे[११]।

सुकर्मा की प्राच्य और उदीच्य दो शिष्य परम्पराएं आविर्भूत हुई। श्रीमद्भागवत में भी दो परम्पराओं का उल्लेख किया है-**'प्राच्य सामगाः और उदीच्यसामगाः'**[१२] इन दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने साम-गायन का प्रचार किया। पुराणों में इसकी शिष्य-परम्परा की एक लम्बी सूची दी हुई है।

आज केवल तीन ही शाखाएं प्रचलित हैं-कौथुमीय, राणायनीय और

जैमिनीय। इनमें कौथुमीय का प्रचार गुजरात में, राणायनीय का महाराष्ट्र में तथा जैमिनीय का कर्णाटक में अधिक है। इनमें कौथुमीय शाखा सर्वाधिक उपादेय एवं लोकप्रिय है। इन संहिताओं में मन्त्रों का न्यूनाधिकता होते हुए भी विषय एक समान है।

साम संहिताओं के दो भेद हैं गान और आर्चिक। प्रत्येक संहिता के गान और आर्चिक नाम के दो भेद है। गान के आगे चार विभाग हो जाते हैं और आर्चिक के दो ही रहते हैं। आर्चिक शब्द का अर्थ ऋक् समूह है।

**कौथुम संहिता** के मुख्य दो भाग हैं पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक।

**पूर्वार्चिक** को छन्द-आर्चिक भी कहते हैं, क्योंकि इसमें स्वतन्त्र छन्द (सामयोनि ऋचाएं) पठित है। पूर्वार्चिक में चार काण्ड है जिन्हे पर्व भी कहते है।

आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान और आरण्य। इसमें चारों काण्डों में मिलकर कुल ६४० ऋचाएं हैं। महानाम्नी आर्चिक में ऋचाओं की संख्या केवल १० है। समुदाय मन्त्र संख्या ६५० हैं।

पूर्वार्चिक में ६ प्रपाठक है। प्रत्येक प्रपाठक में दो खण्ड, प्रत्येक खण्ड में दशति और प्रत्येक दशति में ऋचाएं है। इसका प्रथम प्रपाठक आग्नेय काण्ड कहलाता है। इसमें अग्नि सम्बन्धी ऋचाओं का संग्रह है। दूसरे से चौथे तक का भाग ऐन्द्र पर्व कहलाता है पंचम प्रपाठक पवमान पर्व है इसमें सोम सम्बन्धी ऋचाओं का संकलन है जो ऋग्वेद के पवमान मण्डल (नवम मण्डल) से उद्धृत की गई है। इनमें प्रथम पांच प्रपाठकों की ऋचाएं 'ग्राम गान' नाम से अभिहित है। छठा प्रपाठक आरण्यक पर्व कहा जाता है। जिसका गान अरण्यों में ही होता है। इसीलिए इस प्रपाठक की ऋचाएं 'अरण्यगान' नाम से कथित है।

**उत्तरार्चिक** में नौ प्रपाठक एवं १२२५ मन्त्र हैं। प्रथम पांच प्रपाठकों में दो-दो भाग है, और अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन-तीन अर्ध प्रपांठक है।

दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहोरात्र, सत्र, प्रायश्चित और क्षुद्र इन सात विषयों का प्रतिपादन उत्तरार्चिक में किया गया है। इस प्रकार दोनों आर्चिकों को मिलाकर ऋचाओं की संख्या १८७५ है। इसमें केवल ९९ मन्त्र तो ऐसे है जो अन्यत्र किसी वेद में नहीं मिलते शेष मन्त्र ज्यों के त्यों ऋग्वेद में मिलते हैं।

प्रो. कौलेण्ड के अनुसार कौथुम की अवान्तर शाखा 'ताण्डय' अथवा पंचविंश ब्राह्मण प्रसिद्ध है।

गुजरात के श्रीमाली एवं नागर ब्राह्मणों मे इस शाखा का पर्याप्त प्रचार है। बंगाल में भी कुछ ब्राह्मण घरानों में इस शाखा के अनुयायी मिलते हैं। इसी शाखा का अधिक प्रचार देखकर वेदव्याख्याता सायण ने इसी पर अपने भाष्य की रचना की है। स्व.पं. सत्यव्रत सामश्रमी ने भी इसके प्रचार के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से कुछ मिलते है, कुछ लुप्त हो गए हैं।

**राणायनीय संहिता** कौथुम शाखा से कुछ छोटी है। इसकी मन्त्र संख्या १५४९ है। विशेष अन्तर विभाजन का है। कौथुम के पूर्वार्चिक में प्रपाठक, अर्ध प्रपाठक, दशति एवं मन्त्रों का क्रम है, तो राणायनीय के पूर्वार्चिक में अध्याय, ख़ण्ड एवं मन्त्रों का। इसी प्रकार कौथुम के उत्तरार्चिक में प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, सूक्त एवं मन्त्रों का क्रम है। उच्चारण की दृष्टि से दोनों शाखाओं में कुछ विभिन्नता है। कौथुमीय शाखा के लोग जहाँ 'हाउ' तथा 'राइ' का उच्चारण करते हैं वहाँ राणायनीय शाखा के अनुयायी 'हावु' तथा 'रायी' उच्चारण करते हैं। राणायनीयों की ही एक शाखा सात्यमुग्रि है जिसकी चर्चा महाभाष्यकार ने विशेषतया की है कि 'वे लोग ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का भी प्रयोग किया करते। (महाभाष्य १/१/४/४८) जो कि वेद की अन्य किसी शाखा में या संस्कृत व्याकरण में कहीं नहीं बोला जाता। अंग्रेजी अनुवाद के साथ इस संहिता को जे. स्टेबेन्सन ने १८४२ ई. में प्रकाशित किया था इसका प्रचार महाराष्ट्र और द्रविड़ में है।

**जैमिनीय संहिता**-अपने समग्र रूप में अर्थात्-संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक श्रौत तथा गृह्यसूत्र सहित प्राप्य है। यह वैदिक जनों के लिए प्रसन्नता का विषय है। इसकी मन्त्रसंख्या ११८७ है और विषय की दृष्टि से यह कौथुम के समान ही है। इस संहिता में ऋग्वेद में विद्यमान कई ऐसी ऋचाएँ भी है जो कौथुम एवं राणायनीय संहिताओं में नहीं है। मन्त्रों का क्रम भी कई स्थानों पर कौथुम एवं राणायनीय के क्रम से भिन्न है। 'तलवकर शाखा' इसकी अवान्तर शाखा है, पाणिनि ने इस शाखा का उल्लेख 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' इस सूत्र के गणपाठ के अन्तर्गत किया है[१४]।

सामवेद की कौथुम संहिता का संस्करण जर्मन विद्वान् थियोडोर बेन्फे ने १८४८ ई. में जर्मन भाषा के अनुवाद-सहित प्रकाशित कराया था। राणायनीय संहिता सर्वप्रथम १८८२ ई. में लन्दन से जे. स्टेवेन्सन के अंग्रेजी अनुवाद-सहित प्रकाशित हुई थी। जैमिनीय संहिता को अंग्रेज विद्वान् डॉ. डब्ल्यू. कैलेण्ड ने प्रकाशित किया था। अब यहां भारत में भी प्रकाशित मिलती है[१५]।

**सम्पर्क :** महर्षि दयानन्द गुरुकुल योगाश्रम
पाईकमाल, वरगढ (उड़ीसा) ७६८०३९

**सन्दर्भ :-**

**१. श्रीमद्भगवद्गीता १०/२२ २. ऋग्वेद ५/४४/१४**
**३. अथर्ववेद ९/६/२ ४. जैमिनिय सूत्र २/१/३६**
**५. बृहदारण्यकोपनिषद १/३/२२**
**६. छान्दोग्योपनिषद १/८४ ७. सामवेद सायणभाष्य, भाग १ पृष्ठ २२**
**८. महाभाष्य, परपराह्निक ९. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १**
**१०. जैमिनिय गृह्यसूत्र १/१४**
**११. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ पृ. २४१**
**१२. श्रीमद्भागवत १२/६/७८ १३. वेद दिग्दर्शन**
**१४. वैदिक साहित्य का इतिहास**
**१५. सामवेद भाष्य भूमिका पृष्ठ ५**

## आचार्य रामनाथ वेदालंकार के

# सामवेद-भाष्य पर एक विहंगम दृष्टि

- डॉ. जितेन्द्र कुमार

कोई भी भाष्यकार अथवा व्याख्याकार अपने पूर्ववर्त्ती भाष्यों और व्याख्याओं को ध्यान में रखकर ही उससे अधिक आगे अथवा न्यूनताओं को पूरा करने के उद्देश्य से भाष्य या व्याख्या लिखने में प्रवृत्त होता है। वेद-भाष्यों एवं व्याख्याओं के सन्दर्भ में भी यह बात उचित तथा सटीक दिखायी देती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में वेद-भाष्यों के क्रम में एक बड़ा उल्लेखनीय परिवर्तन आया। अभी तक वेद-भाष्य संस्कृत में ही विद्वानों, ऋषियों, तत्त्वद्रष्टा मनीषियों के उपलब्ध होते थे परन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों का भाष्य संस्कृत में ही न करके जन-जन की भाषा, हिन्दी में भी व्याख्या करके वेदों को सर्वजनसुलभ कराकर नूतन एवं क्रान्तिकारी वेद-व्याख्या का पथ प्रशस्त किया है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का वेद-भाष्य अनेक नवीनताओं और विशेषताओं से संयुक्त यदि हो पाया तो इसके पीछे भी पूर्ववर्त्ती भाष्यकार ही हैं। पूर्ववर्त्ती स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वेंकट-माधव, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, आचार्य सायण, उव्वट, महीधर आदि विद्वानों के ऋषि दयानन्द सरस्वती ने सूक्ष्मदृष्टि से वेदभाष्य किया यह भाष्य अनेक नवीनताओं और विशेषताओं से समन्वित हो सका है। यह हमारे लिए बहुत गौरव का विषय है कि ऋषि दयानन्द सरस्वती ने अपने वेद-भाष्य और व्याख्या से परवर्त्ती भाष्यकारों अथवा व्याख्याकारों को वेदार्थ की अभिनव दृष्टि से अभिषिक्त किया है।

प्रकृत शोध-लेख के शीर्षक से सम्बद्ध सामवेद के प्राचीन तीन भाष्यकार आचार्य माधव, भरत स्वामी और आचार्य सायण ही उपलब्ध होते हैं। ऋषि दयानन्द सरस्वती के वेद-भाष्य सुलभ होने के पश्चात् वेदार्थ के अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति में निरन्तर प्रवृद्धि हुई है एवं होती जा रही है। यही कारण है कि सामवेद के जहाँ प्राचीन तीन भाष्यकारों के ही नाम सुलभ होते हैं वहीं अर्वाचीन भाष्यकारों और व्याख्याकारों के रूप में लगभग दश की संख्या विद्यमान है। सामवेद के आर्य भाषा-भाष्यों में पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार, स्वामी ब्रह्ममुनि, पं. विश्वनाथ विद्यालंकार, पं. श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर, पं. वैद्यनाथ शास्त्री, पं. हरिशरण सिद्धान्तालंकार की व्याख्यायें उल्लेखनीय हैं। उक्त व्याख्याकारों से पूर्व पं. तुलसीराम स्वामी संस्कृत और हिन्दी दोनों में सामवेद का उत्कृष्ट भाष्य कर चुके थे। 'सामसंस्कार भाष्य' नाम से संस्कृत और हिन्दी में सामवेद का एक उत्तम अध्यात्म-भाष्य स्वामी भगवदाचार्य ने भी किया है। सामवेद संहिता की एक भूमिका सहित, सटिप्पण हिन्दी-व्याख्या महामण्डेलश्वर स्वामी गंगेश्वरानन्द उदासीन के नाम से सद्गुरु गंगेश्वर-इण्टरनेशनल-वेद मिशन, मुम्बई से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसमें प्रत्येक मन्त्र के तीन-तीन अर्थ किये गये हैं। प्रथम आचार्य सायण के अनुसार द्वितीय आत्मयाजी अर्थ तथा तृतीय पं. जयदेव विद्यालंकार की व्याख्या का ही समर्थन करता प्रतीत होता है। सामवेद का एक उल्लेखनीय अंग्रेजी भाषा में अनुवाद संस्कृत टिप्पणियों के साथ पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति विद्यामार्त्तण्ड द्वारा भी प्रणीत है।

उपर्युक्त सभी सामवेद पर व्याख्याओं एवं भाष्यों के विद्यमान रहने पर भी पूर्व ऋषियों की परम्परा का वेदार्थ में निर्वाह करते हुए ऋषि दयानन्द सरस्वती की वेद-भाष्य पद्धति का आश्रय ग्रहण कर उसे और अधिक व्यापक रूप प्रदान करने वाले तथा स्वामी जी का अविकल अनुमोदन एवं

सम्पूर्ण समर्थन करते हुए वैदिक वाङ्मय से सम्पुष्ट आध्यात्मिक एवं जीवनोपयोगी व्यावहारिक सामवेद के मन्त्रों के सुरुचिसम्पन्न, पठनीय एवं प्रामाणिक अर्थ आचार्य डॉ. रामनाथ वेदालंकार ने संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में किये हैं।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार के सामवेद-भाष्य की सबसे महत्त्वपूर्ण और बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जिन मन्त्रों के अर्थ ऋग्वेद और यजुर्वेद में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी द्वारा व्याख्यात हैं उन पर भी न केवल भाष्य किया है अपितु स्वामी जी के अर्थों को टिप्पणियों में इंगित तथा उद्धृत करते हुए उससे भिन्न अर्थों को स्वामी जी की ही शैली में करके वेदार्थ की व्यापक दृष्टि को आविष्कृत किया है। जिससे आचार्य जी स्वामी जी के अनुवादक मात्र होने से न केवल बच गये हैं अपितु नये तत्तद् विषय-परक मन्त्रार्थों के उद्भावक और स्वामी जी के प्रसिद्ध वाक्य 'वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है' के याथातथ्य रूप में उद्गाता भी दिखायी देने लगे हैं। यास्क मुनि ने अपने निरुक्त में जिन मन्त्रों की व्याख्या लिखी है उन मन्त्रों पर भी व्याख्यान करते हुए आचार्य श्री ने निरुक्त की शैली का तो आश्रय लिया ही है परन्तु वेद मन्त्रों का उससे पृथक् अर्थ प्रस्तुत करके अपनी ऊहा का भलीभाँति से प्रदर्शन भी किया है। मैं यहाँ स्पष्ट करना चाहता हूँ कि इसका अर्थ आचार्य रामनाथ वेदालंकार जी को निरुक्तकार यास्क और स्वामी दयानन्द सरस्वती से अधिक उदात्त एवं उत्कृष्ट बताना अथवा सिद्ध करना मेरा अभिप्राय नहीं है अपितु निःश्रेणी का अनुसरण करके ऋषि परम्परा का निर्वहण और सम्पोषण सम्प्रति भी वेदों के भाष्य ऋषियों द्वारा प्रदत्त सूत्र शैली को ध्यान में रखकर अधिक व्यापक तथा विस्तार पूर्वक आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक अर्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं, इस ओर ध्यान आकृष्ट करना उद्देश्य है।

आचार्य जी अपने सामवेद-भाष्य की भूमिका में स्वयं लिखते हैं कि-''स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के अपने भाष्य में पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियाँ सम्मुख रखी हैं। उसी का अनुसरण हमने भी अपने इस सामवेद-भाष्य में किया है। सामवेद का उपासना से विशेष सम्बन्ध होने के कारण पारमार्थिक या अध्यात्म व्याख्या तो हमने प्रत्येक मन्त्र पर ही की है उसके साथ अनेक स्थलों पर ब्रह्म-क्षत्र, राजा-प्रजा, आचार्य-शिष्य, सेनापति-सैनिक, गृहपति-गृहजन, प्राण-इन्द्रिय, भौतिक सूर्य, भौतिक अग्नि, भौतिक वायु, आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिल्प आदि से सम्बद्ध व्यावहारिक अर्थों का दर्शन भी किया है। इसी कारण भाष्य में दो अर्थ अनेक मन्त्रों के हो गये हैं। कुछ मन्त्र तीन, चार या पाँच दृष्टियों से भी व्याख्यात हुए हैं। सामवेद की इस व्याख्या में ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का प्रतिपादन हुआ है[१]।''

आचार्य रामनाथ वेदालंकार की सामवेद-भाष्य के साथ संलग्न ७४ पृष्ठीय भाष्य-भूमिका को आद्योपान्त पढ़ने से सामवेद के एवं आचार्य जी के भाष्य के विषय में अत्यन्त विस्तृत, प्रामाणिक और प्रायः सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त हो जाती है।

आचार्य जी ने अपने सामवेद-भाष्य के प्रथम मन्त्र के ही तीन अर्थ किये हैं। जब कि यह मन्त्र ऋग्वेद (६-१६-१०) पर स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा विद्वत्-पक्ष में ही व्याख्यात है। आचार्य जी ने प्रथम अर्थ परमात्मा परक द्वितीय अर्थ विद्वान् परक तथा तृतीय अर्थ राजा परक सप्रमाण एवं युक्तियुक्त संगति के साथ प्रस्तुत किया है। मन्त्रार्थ निम्न प्रकार से उद्धृत है।

'तत्र प्रथमः परमात्मपरः। हे (अग्ने) सर्वाग्रणीः, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वसुखप्रापक, सर्वप्रकाशमय, सर्वप्रकाशक परमात्मन्! (गृणानः)कर्त्तव्यानि

उपदिशन् त्वम् (वीतये) अस्माकं प्रगतये, अस्माकं विचारेषु, कर्मसु च व्याप्तये, हृदयेषु सद्गुणानां प्रजननाय, अस्मासु स्नेहितुम्, कामक्रोधादीनां च, बहिः प्रक्षेपणाय (हव्यदातये) होतुं दातुं योग्यं द्रव्यं हव्यं सद्बुद्धि-सत्कर्म सद्धर्म-सद्धनादिकं तस्य दातये दानाय च (आ याहि) आगच्छ (होता) शक्त्यादिप्रदातादौर्बल्यादिहर्त्ता च सन् (बर्हिषि) हृदयान्तरिक्षे (नि सत्सि) निषीद।

अथ द्वितीयो विद्वत्परः। हे (अग्ने) विद्वन्! (गृणानः) यज्ञविधिं यज्ञलाभांश्चोपदिशन् त्वम् (वीतये) यज्ञस्य प्रगतये (हव्यदातये) हविषां यज्ञाग्नौ दानाय च (आयाहि) आगच्छ। (होता) होमनिष्पादकः सन् (बर्हिषि) दर्भासने (नि सत्सि) निषीद। एवं यजमानानामस्माकं यज्ञं निरूपद्रवं संचालयेत्यर्थः।

एवं तृतीयो राजपरः। हे (अग्न) अग्रणीः राजन्! त्म् (गृणानः) राजनियमान् शब्दयन् घोषयन् (वीतये) राष्ट्रस्य प्रगतये, स्वप्रभावेन प्रजासु व्याप्तये, प्रजासु राष्ट्रियभावनाया विद्यान्यायादीनां च प्रजननाय, आभ्यान्तराणां बाह्यानां च शत्रूणां निरसनाय वा, (हव्यदातये) राष्ट्र हितार्थं देहमनोराजकोषादिकं वा सर्वं किञ्चिद् हव्यं कृत्वा तस्य दातये उत्सर्जनाय च (आ आहि) आगच्छ। (होता) राष्ट्रयज्ञस्य निष्पादकः सन् (बर्हिषि) राज्यासने राजसभायां वा (नि सत्सि) निषीद।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उक्त मन्त्र पर विद्वानों के पक्ष में इस प्रकार व्याख्यान किया है।

(अग्ने) विद्वन्! (आ याहि) आगच्छ (वीतये) विद्यादिशुभगुण-व्यातये (गृणानः) स्तुवन् (हव्यदातये) दातव्यदानाय (नि) (होता) दाता (सत्सि) समवैषि (बर्हिषि) उत्तमायां सभायाम् इत्यादि[३]।

उक्त दोनों मन्त्रार्थों की तुलना करने पर यह सुस्पष्ट होता है कि आचार्य जी ने स्वामी जी से प्रेरणा प्राप्त कर अपने सामवेद-भाष्य को अधिक

व्यापक अर्थ प्रदान करने वाला एवं ऋषियों की अविच्छिन्न परम्परा को पुनरुज्जीवित करने वाला तथा स्पष्टता एवं विशदता के साथ प्रस्तुत करने वाला बनाया है।

सामवेद के प्रथम मन्त्र की शब्दशः तुलना अधोलिखित प्रकार से द्रष्टव्य है-

स्वामी जी मन्त्रागत पद (अग्न) का अर्थ विद्वान् और राजा अर्थ करते हैं। (वीतये) पद का अर्थ स्वामी जी विद्यादि शुभगुणों की व्याप्ति के लिए लिखते हैं तो आचार्य जी हमारी प्रगति के लिये, हमारे विचारों और कर्मों में व्याप्त होने के लिये, हृदयों में सद्‌गुणों को उत्पन्न करने के लिये, हमारे में स्नेह भरने के लिये, और कामक्रोधादि दुर्गुणों को बाहर फेंकने के लिए, यज्ञ की प्रगति के लिये, राष्ट्र की प्रगति के लिये, यह अर्थ करते हैं। (गृणानः) शब्द का अर्थ स्वामी जी स्तुति करते हैं तो आचार्य जी कर्त्तव्यों का उपदेश करते हुए, यज्ञविधि और यज्ञ के लाभों का उपदेश करते हुए, राजनियमों को बताते हुए एवं उद्‌घोषणा करते हुए यह अर्थ लिखते हैं। (हव्यदातये) का व्याख्यान स्वामी जी देने योग्य दान के लिये करते हैं वहीं आचार्य जी सद्‌बुद्धि-सत्कर्म-सद्‌धर्म-सद्धनादि,, देने योग्य हवि के, दान के लिये, हवि का यज्ञाग्नि में दान के लिये, राष्ट्रहित के लिये शरीर, मन, राजकोषादि अथवा सर्वस्व होम करके उसको उत्सर्जन करने के लिये अर्थ प्रकट करते हैं। (होता) का अर्थ स्वामी जी दाता लिखते हैं तो आचार्य जी शक्ति आदि प्रदाता, दुर्बलता आदि का हर्त्ता, होम का निष्पादक, राष्ट्रयज्ञ का सम्पादक अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। (सत्सि) का अर्थ स्वामीजी ने 'समवैषि' किया है तो आचार्य जी ने 'निषीद' यह लिखा है। (बर्हिषि) पद का व्याख्यान स्वामीजी ''उत्तम सभा में'' करते हैं वहीं आचार्य जी ने हृदयान्तरिक्ष में, दर्भासन पर, राज्यासन अथवा राजसभा में ऐसा अर्थ व्यक्त किया है।

उक्त सामवेद के प्रथम मन्त्र की स्वामी जी एवं आचार्य जी के अर्थों

की तुलना करने पर यह सुस्पष्ट रूप से दिखायी देता है कि आचार्य जी ने न केवल स्वामी जी की वेदभाष्य शैली का अनुसरण किया है प्रत्युत उसको वैदिक वाङ्मय से सुपुष्ट करते हुए व्यापक अर्थों में विस्तार भी प्रदान किया है। आचार्य जी ने अपने सामवेद भाष्य को शैली, परम्परा, विविधता, व्यापकता, विशदता, सुगमता एवं प्रामाणिकता के साथ सुभूषित करके प्रस्तुत किया है वह हृदयावर्जक है, वह पठनीय है और अन्यों के लिए प्रेरक एवं अनुकरणीय भी मुझे प्रतीत होता है। ऐसा अनेक स्थलों पर दिखायी देता है कि आचार्य जी ने ध्यानावस्थित होकर मानो साक्षात् ईश्वर से ही अन्तःकरण में अर्थोद्घाटन की प्रेरणा प्राप्त कर भाष्य लिखा है। इससे यह कहने में भी मुझे संकोच नहीं है कि ऋषियों की परम्परा का उच्छेद अथवा विच्छेद होना अत्यन्त कठिन है। साधना और अध्ययन रूपी तप में तपा हुआ व्यक्ति ही सम्पूर्ण वैदिक साहित्य एवं संस्कृत साहित्य का आलोडन-विलोडन करके इस प्रकार का वेद-भाष्य लिखने में समर्थ हो पाता है। आचार्य जी की गम्भीर साधना, विस्तृत एवं व्यापक अध्ययन का ही सुपरिणाम यह सामवेद-भाष्य है।

सामवेद के एक अन्य मन्त्र पर अर्थ करते हुए आचार्य जी ने अपने पूर्ववर्त्ती भाष्यकारों विवरणकार माधव, भरत स्वामी, आचार्य सायण, उव्वट, महीधर और स्वामी दयानन्द सरस्वती को उद्धृत कर समीक्षा पूर्वक अपने अर्थ को अभिव्यक्त किया है। इस मन्त्र पर एक भाष्यकार माधव ने इतिहास, भरत स्वामी ने अग्नि को अथर्वा ने मथकर निकाला इत्यादि में अग्नि की उत्पत्ति, आचार्य सायण ने अग्नि को पुष्करपर्ण अर्थात् कमल-पत्र के ऊपर अरणियों से उत्पन्न किया आदि से अग्नि के प्रादुर्भाव का वर्णन, उव्वट और महीधर ने भी लगभग इसी प्रकार के अर्थ अपने वेद-भाष्य में किये हैं। इन सबका प्रत्याख्यान करके आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने यथार्थ अर्थ से परिचित कराने का प्रयत्न भी किया है।

मन्त्र एवं मन्त्रार्थ[४] निम्न प्रकार से उदाहरण-स्वरूप उद्धृत है।

हे (अग्ने) तेजः स्वरूप परमात्मन्! (अथर्वा) न थर्वति चलति यः सः, स्थितप्रज्ञो योगीत्यर्थः। (त्वाम्) भवन्तं (विश्वस्य) सकलस्य ज्ञानस्य (वाघतः) वाहकात् वाहके इति यावत्। (पुष्करात्-मूर्ध्नः अधि) पुष्करीकतुल्ये मस्तिष्के (निरमन्थत) मथित्वा जनयति। उक्तं च श्वेताश्वतरे- 'स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्यान-निर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्' श्वेता. २/१४ 'पुष्करपर्णाश्रयेण हि अग्निः उत्पन्नः' इत्यस्याः कथाया अयमेव मन्त्रो मूलम्। यथोच्यते-त्वामग्ने पुष्करादधीत्याह पुष्करपर्णे ह्येनमुपश्रितमन्वविन्दत्। तै.सं. (५-१-४-४)

**भावार्थ :-** यथा खल्वरणिमन्थनेन यज्ञवेदिपुण्डरीके यज्ञाग्नि-रुत्पाद्यते, तथैव स्थिर-प्रज्ञैर्योगिभिः ध्यानरूपेण मन्थनेन मूर्धपुण्डरीके परमात्माग्निः प्रकटीकरणीयः[५]।

दयानन्दर्षिणा ऋग्वेदभाष्ये यजुर्वेदभाष्ये चायं मन्त्रः सूर्यादिः सकाशाद् विद्युद् ग्रहणपरो व्याख्यातः। यथा-ऋ. ६-१६-१३ मन्त्रभाष्ये भावार्थः- हे विद्वांसो, यथा पदार्थविद्याविदो जनाः सूयदिः सकाशाद् विद्युतं गृहीत्वा कार्याणि साध्नुवन्ति तथैव यूयमपि साध्नुत इति।

यजु. १५-२२ मन्त्रभाष्ये च भावार्थः-मनुष्यैः विद्वदनुकरणे-नाकाशात् पृथिव्याश्च विद्युतं संगृह्याश्चर्य्याणि कर्माणि साधनीयानि। इति।

विवरणकारस्त्वाह-अत्रेतिहासमाचक्षते। सर्वमिदमन्धं तम आसीत्। अथ मातरिश्वा वायुः आकाशे सूक्ष्ममग्निमपश्यत्, स तममथ्नात् अथर्वा च ऋषिरिति। एष च तन्मन्त्रभाष्यस्य सारः-हे अग्ने अथर्वा ऋषिः त्वां मूर्ध्नः प्रधानभूतात् पुष्करात् अन्तरिक्षात्, विश्वस्य सर्वस्य, वाघतः ऋत्विजो यजमानस्य अर्थाय निरमन्थत नितरां मथितवानिति। वस्तुतस्त्वयं सृष्ट्युत्पत्ति प्रक्रियायाम् अग्नेर्जन्मन इतिहासः। आकाशाद् वायुः वायोरग्निरित्यु-त्पत्तिक्रमः। आकाशे सूक्ष्मरूपेणाग्निर्विद्यमान आसीत्। तम् अथर्वा परमेश्वरः

पूर्वोत्पन्नो वायुश्च तस्मात् निरमन्थत प्रकटी-कृतवानित्यभिप्रायो ग्राह्यः।

''मूर्ध्नो धारकात् विश्वस्य वाघतः निर्वाहकात्, पुष्कराद् अन्तरिक्षात्, पुष्करपर्णादित्यपरे'' इति भरतस्वामि भाष्याशयः। हे अग्ने, अथर्वा एतत्संज्ञ ऋषिः मूर्ध्नः मूर्धवद्धारकात्, विश्वस्य सर्वस्य जगतः वाघतः वाहकात्, पुष्कराद् अधिपुष्करे पुष्करपर्णे त्वां निरमन्थत अरण्योः सकाशादजनयदिति सायणीयोऽ-भिप्रायः। अत्रापि पुष्करपर्णं न कमलपत्रम्, किन्तु यज्ञवेद्या आकाशः, अथर्वा च स्थिरचित्तत्वेन यज्ञं कुर्वाणो यजमानः, असौ अरण्योः सकाशादग्निं जनयतीति तात्पर्यं बोध्यम्।

उव्वटस्तु यजु. (११-३२) भाष्ये-'आपो वै पुष्करं प्राणोऽथर्वा। शतपथ (६-४-२-२) इति शातपथीं श्रुतिं प्रमाणीकृत्य 'त्वां हे अग्ने, पुष्कराद् उदकाद् अधि सकाशात् अथर्वा अतनवान् प्राणे निरमन्थत निर्जनितवान् इति व्याचष्टे। तदेव महीधरस्याऽभिप्रेतम्। तत्र प्राणः प्राणवान् परमेश्वरो विद्वान् वा, उदकानि पर्जन्यस्थानि, अग्निश्च विद्युदिति विज्ञेयम्। यद्वा, शरीरस्थः प्राणो भुक्तपीतेभ्यो रसेभ्यो जीवनाग्निं जनयतीति तात्पर्य बोध्यम्। महीधरेण द्वितीयो वैकल्पिकोऽर्थः पुष्करपर्णेऽग्निमन्थन पर एव कृतः। भाष्यकारैस्तात्पर्यं प्रकाशनं विनैव कथा लिखिता याः पाठकानां भ्रमोत्पत्तिनिमित्तं सञ्जाताः।

वस्तुतस्तु अथर्वनाम्नः कस्यचिद् ऋषेरितिहासोऽस्मिन् मन्त्रे नास्ति, वेदमन्त्राणामीश्वरप्रोक्तवात्, सृष्ट्यादौ प्रादुर्भूतत्वात् पश्चाद्-वर्त्तिनाम् ऋष्यादीनां कार्यकलापस्य पूर्ववर्तिनि वेदेऽसम्भवत्वाच्च।

उपर्युक्त मन्त्रार्थ के उद्धरण से यह प्रमाणित होता है कि आचार्य जी ने अपने सामवेद-भाष्य में पूर्व भाष्यकारों एवं व्याख्याकारों के पक्ष को सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत करके जहाँ उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है वहाँ वेदार्थ के सम्यक् अवबोध हेतु उनके मत का निरसन करने में भी संकोच नहीं किया है।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार द्वारा सामवेद का एक मन्त्र[६] चार प्रकार

से व्याख्यात है। इस मन्त्र पर आचार्य यास्क का भी निरुक्त में अर्थ प्राप्त होता है। आचार्य जी ने निरुक्त को उद्धृत करते हुए अपने चार अर्थ प्रस्तुत किये हैं। प्रथम सूर्य और सूर्य-किरणों के पक्ष में, द्वितीय आचार्य और शिष्यों के पक्ष में, तृतीय परमात्मा और जीवात्मा के पक्ष में तथा चतुर्थ राजा और प्रजा के पक्ष में अर्थ लिखे हैं। इसको भी उद्धृत करने के लोभ का संवरन न कर पाने के कारण मन्त्र एवं मन्त्रार्थ अधोलिखित प्रकार से द्रष्टव्य है-

**प्रथमः** – सूर्य-सूर्यरश्मिपक्षे। (सुपर्णाः वय) उत्कृष्टपक्षतियुक्ताः पक्षिणः इव सुपतनाः आदित्यरश्मयः (इन्द्रम्) सूर्यम् (उपसेदुः) उपसीदन्तीव। (प्रियमेधाः) प्रिया मेधा बुद्धि प्रदानाख्यं कर्म येषां तादृशाः, यद्वा प्रियः मेधः यज्ञः प्रकाशप्रदानरूपः येषां तथाविधाः। (ऋषयः) दर्शयितारः ते (नामधानाः) याचमाना इव भवन्ति। यत् हे आदित्य! (निधया इव) पाशसमूहेन इव। (बद्धान्) संयतान् (अस्मान्) नः (मुमुग्धि) मुञ्च। अस्मद्द्वारा (ध्वान्तम्) तमः, तमसः आवरणमिति यावत् (अप ऊर्णुहि) अपावृणु, (चक्षुः) प्राणिनां नेत्रम् (पूर्धि) प्रकाशेन पूरय।

मन्त्रमेतं यास्काचार्य एवं व्याख्यातवान्-वयो वेर्बहुवचनम्। सुपर्णाः सुपतनाः आदित्यरश्मयः। उपसेदुरिन्द्रं याचमानाः। अपोणुर्हि आध्वस्तं चक्षुः। पूर्धि पूरय, देहीति वा। मुञ्च अस्मान् पाशैरिव बद्धान् इति। निरुक्त (४-३)

**अथ द्वितीय :**-आचार्यशिष्य-पक्षे। (सुपर्णाः) ज्ञानकर्मोपासना-रूपशोभनपक्षयुक्ताः (वयः) उड्डयनसमर्थाः पक्षिणः इव अधीत-विज्ञानप्रचारसमर्थाः शिष्याः (इन्द्रम्) विद्या-ऐश्वर्यवन्तम् आचार्यम् (उपसेदुः) उपसीदन्ति। (प्रियमेधाः) प्रियबुद्धयः प्रिययज्ञाः वा (ऋषयः) वेदादिशास्त्रद्रष्टारः सन्तः ते (नाधमानाः) आचार्यं याचमानाः भवन्ति यत् (निधया इव बद्धान्) पाशैरिवात्र गुरुकुले निगडितवान् (अस्मान्) नः (मुमुग्धि)

बहिर्गन्तुं मुञ्च, अस्मदद्वारा (ध्वान्तम्) जगति प्रसृतम् अविद्यान्धकारम् (अप ऊर्णुहि) अपसारय, जनेषु च (चक्षुः) ज्ञानप्रकाशं (पूर्धि) पूरय।

**अथ तृतीयः** - परमात्मजीवात्मपक्षे। (सुपर्णाः) ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-प्राण-मनो-बुद्धि (वयः) पक्षिणः इव जीवात्मानः (इन्द्रम्) परमेश्वरम् (उपसेदुः) उपसीदन्ति। (प्रियमेधाः) प्रियप्रज्ञानाः वा (ऋषयः) द्रष्टारः ते (नाधमानाः) परमेश्वरं याचमानाः भवन्ति, यत्-अस्माकं (ध्वान्तम्) तमोगुणावरणम् (अप ऊर्णुहि) अपसारय, (चक्षुः) ज्ञानप्रकाशं (पूर्धि) पूरय, (निधया इव) पाशसमूहेन वा जन्मजरा-मरणादिना (बद्धान्) देहे जगति वा निगडितान् (अस्मान्) नः (मुमुग्धि) मुञ्च्, मुक्ति-प्रदानेन अनुगृहाण।

**अथ चतुर्थः** - राजप्रजापक्षे (सुपर्णाः) विविधसाधनरूप-शुभपक्षाः (वयः) कर्मण्याः प्रजाजनाः (इन्द्रं) परमैश्वर्यं वीरं राजानम् (उपसेदुः) उपसीदन्ति। (प्रियमेधाः) प्रियबुद्धयः प्रिययज्ञः वा (ऋषयः) दर्शनशक्तिसम्पन्नाः प्रबुद्धाः ते (नाधमानाः) राजानं याचमानाः भवन्ति, यत् (ध्वान्तम्) राष्ट्रे व्याप्तम् अविद्या भ्रष्टाचारादिरूपं तमः (अप ऊर्णुहि) अपसारय (चक्षुः) सद्विज्ञान-सद्विचार-सदाचारादीनां प्रकाशम् (पूर्धि) पूरय, (निधया इव) पाशसमूहेन इव पापैर्दुर्व्यसनैश्च (बद्धान्) निगडितान् (अस्मान्) प्रजाजनान् (मुमुग्धि) सच्छिक्षण-दण्डादि-भिरुपायैः पापेभ्यो दुर्व्यसनेभ्यश्च मोचय।

अप्रस्तुतप्रशंसालकारः। अप्रस्तुतेन सूर्य-रश्मि-वृत्तान्तेन प्रस्तुतो गुरुशिष्य-परमात्मा जीवात्म-राजप्रजावृत्तान्तो व्यज्यते। 'निधयेव बद्धान्) इत्युत्प्रेक्षा।

**भावार्थः** - कविरुत्प्रेक्षते यद् रात्रौ सूर्यरश्मयो जालबद्धाः खगा इव सूर्यमण्डले संयता इव भवन्ति, ते तदा सूर्यं याचन्ते इव यदस्मान् मुञ्च येन वयं भूतलं गत्वाऽन्धकारं निवार्य सर्वत्र प्रकाशं प्रसारमेय। तथैव गृहीतविद्याः

शिष्या आचार्यं याचन्ते यदस्मान् गुरुकुलाद् विसृज, येन बहिर्गत्वा वयं जगति प्रसृतम् अविद्यान्धकारं निवारयेम। तथैव जीवात्मानः परमात्मानं याचन्ते यज्ज्ञानाञ्जनशलाकयाऽस्माकं चक्षुरून्मील्य जन्म-जरामरणादिभिर्निगडि-तानस्मान् मोक्षाधिकारिणः कुरु। तथैव प्रजाजना राजानं याचन्ते यद् राष्ट्रे व्याप्तम् अज्ञानदुराचारा-दिरूपं तमो विच्छिद्य राष्ट्रपतनकारिभ्यः समस्तेभ्योऽपि दुर्व्यसनेभ्याऽ-स्मान् मोचयेति[७]।

उक्त मन्त्रार्थ में और यास्क द्वारा निरुक्त में वर्णित सूर्यरश्मि पक्ष के व्याख्यान में अत्यल्प विभेद दिखायी पड़ता है। इस ओर ध्यान आकृष्ट करना अभीष्ट है। मन्त्रागत 'ध्वान्तम्' को आचार्य यास्क ने 'चक्षुः' का विशेषण मानकर उसका 'ध्वस्त' यह अर्थ किया है। किन्तु आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने 'ध्वान्त' को 'चक्षु' का विशेषण न मानकर अन्धकार वाचक अलग ही पद स्वीकार करके अधिक सुसंगत अर्थ किया है।

यास्क मुनि ने जहाँ निरुक्त में उपर्युक्त व्याख्या ही की है वहीं आचार्य जी ने चारों अर्थों में क्रमशः 'ध्वान्तम्' का अन्धकार के आवरण को, संसार में फैले हुए अविद्या के अन्धकार को, तमोगुण के आवरण को, राष्ट्र में व्याप्त अविद्या, भ्रष्टाचार आदि के अन्धकार को हटाने की अथवा दूर करने वाली व्याख्या की है।

निरुक्त (४-३) पर आचार्य विश्वेश्वर की टीका को देखने पर ज्ञान होता है कि आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने उक्त अर्थ की उद्‌भावना निम्न टीका से ग्रहण की हो अथवा स्वोपज्ञ प्रतिभा प्रसूत हो अथवा किसी अन्य पूर्ववर्त्ती भाष्यकार के आशय को ग्रहण कर युक्तिपूर्वक अर्थ किया है।

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि निरुक्त के उक्त मन्त्र पर टीका करते हुए लिखते हैं कि-'यास्क ने इस मन्त्र की व्याख्या की है। इस व्याख्या में मन्त्र के 'ध्वान्त' पद को 'चक्षुः' का विशेषण मानकर उसका

'ध्वस्त' यह अर्थ किया है। यदि ध्वस्त को चक्षु का विशेषण न लगाकर अन्धकार वाचक अलग ही पद माना जाय तो अर्थ अधिक अच्छा और भाषा का प्रवाह ठीक रहता है। 'ध्वान्तम् अपोर्णुहि' अन्धकार को नष्ट करो और 'चक्षुः पूर्धि' नेत्रों को सशक्त अर्थात् समर्थ करो यह अर्थ यास्क के अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा प्रतीत होता है। अतः हमने मन्त्र का यही अर्थ किया है[८]।

उपर्युक्त उद्धरणों एवं आचार्य जी के सामवेद-भाष्य को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि आचार्य रामनाथ वेदालंकार का भाष्य न केवल ऋषि परम्परानुमोदित और समर्थित है अपितु व्यापक अर्थों को प्रकट करते हुए पूर्व भाष्यकारों की समीक्षा भी करता है।

सम्पर्क : श्री प्र.सिं.बा. राज.
स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
शाहपुरा, भीलवाड़ा (राज.)

***सन्दर्भ :***

१. *सामभाष्य-भूमिका पृष्ठ सं. ६७-६८ डॉ. रामनाथ वेदालंकार*
२. *ओ३म् अग्र आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि। (कें) सामवेद (१.१.१.) भाष्य-डॉ. रामनाथ वेदालंकार।*
३. *ऋग्वेद (६.१६.१०) भाष्य-स्वामी दयानन्द सरस्वती।*
४. *त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः।*
*साम. (१-१-९)*
५. *सामवेद-भाष्य (१-१-९) आचार्य रामनाथ वेदालंकार*
६. *वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।*
*अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्द्धि चक्षुर्मुमुग्ध्या स्मान्निधयेव बद्धान्। साम. मन्त्र सं. (३१९)*
७. *सामवेद-मन्त्र संख्या-पूर्वार्चिक (३१९) आचार्य रामनाथ वेदालंकार*
८. *निरुक्त ४.३ (यास्क) पृष्ठ ३७२ व्याख्याकार-आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि*

# पदपाठ की दृष्टि से सामभाष्यों का अनुशीलन

- डा. दिनेशचन्द्र शास्त्री

पदपाठ, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् और वेदाङ्ग-ये पाँच वेदों के गूढ़ अभिप्राय को हृदयङ्गम करने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इनमें 'पदपाठ' सबसे प्रथम साधन है। इसमें वेदार्थ को समझने के लिए मन्त्रों के विभिन्न पदों को पृथक्-पृथक् स्वरसहित रखा जाता है। इससे संज्ञा, क्रिया, उपसर्ग आदि का ठीक-ठीक बोध होता है तथा प्रत्येक पद का अर्थ समझने में सुविधा होती है। अथर्व प्रातिशाख्य के अनुसार पदपाठ में पदों के आदि, अन्त, वैदिक् शुद्धस्वरूप (शब्द) स्वर तथा अर्थ पर विचार किया जाता है[१]। इसलिए स्वामी दयानन्द ने जहाँ इसको भाष्य के अंगरूप में स्वीकार किया है[२] वहीं प्राच्यविद्याविशारद महामहोपाध्याय पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने वेदों का प्रारम्भिक संक्षिप्त भाष्य कहा है[३]। ऋग्वेद पर शाकल्य, तैत्तिरीय यजु. पर आत्रेय और सामवेद पर गार्ग्य के पदपाठ उपलब्ध हैं। यह भी उल्लेख मिलता है कि यजुर्वेद (माध्य.) का पदपाठ भी शाकल्यकृत हैं[४]।

सामवेद का जहाँ सायणकृत भाष्य मिलता है, वहीं भरतस्वामी के भाष्य के साथ-साथ माधव का विवरण नाम से व्याख्यान भी उपलब्ध है इसके साथ ही साथ सामवेद में कृतभूरिश्रम सामश्रमी के नाम से लोकविश्रुत बंगाल के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं. सत्यव्रत की सायणभाष्य के सम्पादन में दी गयीं पाद-टिप्पणियां भी सामभाष्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। पण्डितराज भगवदाचार्य का सामसंस्कार-भाष्य भी उल्लेखनीय है। इसमें आध्यात्मिक अर्थ ही किये गये हैं[५]। आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द की शैली पर सम्पूर्ण सामवेद का संस्कृत और आर्य (हिन्दी) दोनों भाषाओं में भाष्य, गुरुकुल कांगड़ी में अधीतविद्य विद्यामार्तण्ड आचार्य रामनाथ का उपलब्ध है जो कि सब प्रकार से पूर्ण कहा जा सकता है। इसमें पदपाठ, स्वरशास्त्र, अलंकार शास्त्र, नैरुक्त प्रक्रिया एवं पूर्वापर संगति आदि कई

दृष्टियों से मन्त्रों पर विचार किया गया है। अपने से पूर्ववर्ती उपलब्ध प्रायः सभी भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन भी भाष्यकार ने अपनी टिप्पणियों में प्रदर्शित किया है। मन्त्र संबन्धी जो भी जानकारी भाष्यकार को है वह सब उसने भाष्य के साथ-साथ टिप्पणियों में दिखाने की हर संभव कोशिश की है। इस तरह कई दृष्टियों से यह महत्त्वपूर्ण जानकारियों का बृहत्कोष (Encyclopaedia) है। हिन्दी में भी पं. तुलसीराम स्वामी, पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार, स्वामी ब्रह्ममुनि, हरिशरण सिद्धान्तालंकार और श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के भाष्य मिलते हैं। अंग्रेजी में जे. स्टेवेन्सन, ग्रिफिथ और स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती के अनुवाद प्रकाशित हैं। जर्मनभाषा में थियोडोर वेन्फे का अनुवाद मिलता है।

इस शोध पत्र का महत्त्वपूर्ण आधार आचार्य रामनाथकृत सामभाष्य की पाद-टिप्पणियाँ है। जिनके अनुसार हम गार्ग्यकृत पदपाठों के आधार पर केवल सामवेद पूर्वार्चिक पर ही संस्कृत भाष्यों को परखने की कोशिश करेंगे कि ये पदकार आचार्य के अनुसार कितने सही हैं या पदच्छेद करने वाले का पदविभाग कितना युक्तियुक्त है। यदि इस शोध पत्र को सम्पूर्ण सामवेद को आधार बनाकर लिखा जाता है तो इसका कलेवर ज्यादा बड़ा हो जाता। सामवेद पूर्वार्चिक में ही ६५० मन्त्र हैं। आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान और आरण्यपर्व के मन्त्र इस आर्चिक में हैं। इसके साथ ही साथ इसमें १० मन्त्रों का महानाम्नी आर्चिक भी है क्योंकि छन्द आर्चिक और महानाम्नी आर्चिक मिलकर पूर्वार्चिक होता है। सामवेद के पदपाठों पर विचार करते हुए तत्-तत् मन्त्रों के ऋग्वेदीय शाकल्य पदपाठों की संगतियों पर आवश्यकतानुसार प्रकाश पड़ेगा। सामवेद पूर्वार्चिक के जिन स्थलों पर भाष्यकारों की पदकार आचार्य से मतभिन्नता है वे निम्नप्रकार हैं -

**आग्नेय पर्व**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. अभुवः | (मं.स.५३) | २. असुरस्य | (मं.७८) |
| ३. वन्दद्वारा | (मं. ७८) | ४. ऊत्या गमत् | (मं.१०२) |

५. स्वर्णरम् (मं. १०९)

## ऐन्द्र पर्व

६. रथ्योर्हिता (मं. १५४) ७. द्युमद्गामन् (मं. १७७)
८. दोषो (मं. १७७) ९. बृहद्गाय (मं. १७७)
१०. वरिवस्या (मं. १८६) ११. त्रदम् (मं. २०४)
१२. अगो रयिः (मं. २२५) १३. असुरेभ्यः (मं. २५४)
१४. देवतातये (मं. २४९) १५. आप तद् (मं. २६८)
१६. त्वावसो (मं. २८०) १७. त्रिं-शत् पदा न्यक्रमीत् (मं.२८१)
१८. इत ऊती (मं.२८३) १९. विव्रतानाम् (मं. २८८)
२०. उस्रा (मं. ३०४) २१. कुष्ठः (मं. ३०५)
२२. आद्धन्यथा (मं. ३०५) २३. वियद्वः (विवः) (मं. ३१५)
२४. अधद्रा (मं. ३२३) २५. विष्वक् (मं. ३३९)
२६. (पितुः)नपातम् (मं.३४०) २७. उभयाहस्ति (मं. ३४५)
२८. भ्यसाते (मं. ३७१) २९. शम्बरम् (मं. ३९२)
३०. विषुवतः (मं. ४०९) ३१. शोभथा (मं.४०९)
३२. सोम इत् (मं. ४१०) ३३. ब्रह्म (मं. ४१०)
३४. मातथा इव (मं. ४१६) ३५. रणा (मं. ४२२)
३६. सक्षणिः (मं. ४२८) ३७. ऋणया (मं. ४२८)
३८. सहस्त्रमानवः (मं. ४५८) ३९. विवस्वते (मं. ४६१)

## पावमान पर्व

४०. आयुषक् (मं. ४८३) ४१. तु न (मं. ५०९)
४२. व्रजं न (मं. ५३९) ४३. गोन्योघा (मं. ५४०)
४४. मखम् (मं. ५५३) ४५. अपि या (मं. ५८५)

## आरण्यपर्व

४६. (आ) रजोयुजः (मं. ५८८) ४७. विष्वङ् (मं. ६१८)
४८. सहना/सुहना (मं. ६२५)

इस प्रकार आग्नेय पर्व में पांच, ऐन्द्रपर्व में ३४, पावमान पर्व में ६ आदि आरण्यपर्व में तीन ऐसे स्थल हैं जहाँ पद-सम्बन्धी गार्ग्य के पाठों की अधिकांश स्थलों पर सायण, भरतस्वामी और विवरणकार माधव आदि ने उपेक्षा कर अपने अनुसार व्याख्यान किये हैं। परन्तु विद्यामार्त्तण्ड आचार्य रामनाथ ने इन सभी स्थलों पर पदपाठानुसारी ही संगत अर्थ किये हैं, जो कि परम्परा और स्वरशास्त्र सम्मत हैं। कहीं-कहीं आचार्य रामनाथ ने पदपाठानुसार तो भाष्य किया ही है अन्य स्वतन्त्र व्याख्यान भी अपनी ऊहा और तर्कशक्ति से किया है क्योंकि पदपाठ में सभी सम्भव अर्थ समाहित नहीं हो सकते अर्थात् मन्त्र के जितने अर्थ प्रतीयमान हो सकते हैं, उन सबका संग्रह पदकार पदपाठ के प्रवचन द्वारा नहीं कर सकते[६]। ऐसे स्थल यथास्थान इस शोधपत्र में द्रष्टव्य हैं। भाष्यकारों के पदपाठ से मतभिन्नता रखने वाले उपर्युक्त स्थलों में से कतिपय पदों का विवेचन इस प्रकार है-

१. यद्दूरे सन्निहाभुवः (मं. ५३) में पदकार ने अन्तिम पद-'अभुवः' माना है जो कि लुङन्त रूप है। जबकि भरतस्वामी ने इसको लेट् लकार का रूप 'आभुवः' मानकर व्याख्यान किया है-आ समन्ताद् भवेः इति। आचार्य रामनाथ ने पदकार के लुङन्तरूपानुसार ही भाष्य किया है- 'अभूः' भूतवानसि इति।

२. वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु (मं. ७८) में पदकार ने 'वन्दद्वारा' पदपाठ का प्रवचन किया है। परन्तु विवरणकार ने 'वन्दद्वारा' के स्थान पर 'वन्दद् वारा' पाठ मानकर व्याख्यान किया है-'प्रवन्दत् प्रकर्षेण स्तौति, वारा द्वितीयैकवचनस्य स्थाने आकारः, वार वरणीयम्' ' इति। अन्यभाष्यकारों के व्याख्यान इस प्रकार हैं-

**'वन्दद्वारा-वन्दद्वाराणि' इति भरतस्वामी।**

'वन्दनं वन्दः स्तुतिः, तद् द्वाराणि स्तुति प्रमुखानि वन्दमाताः सर्वैः स्तूयमानानि कृतानि कर्माणि' इति सायणाचार्यः।

'वन्दनाद्वारेण' इति आचार्य रामनाथः।

३. ऊत्या गमत् (मं. १०२) ऊत्या आ गमत् (पदपाठः)। विवरणकार माधव और भरतस्वामी ने यहाँ (ऊती आगमत्) विच्छेद करके अपने-अपने भाष्य-व्याख्यान किये हैं, जो कि पदकार के विरुद्ध हैं-ऊती-पालयित्री' इति माधवः। 'ऊती ऊत्या रक्षया सह' इति भरतस्वामी। परन्तु आचार्य रामनाथ ने पदकार के प्रवचनानुसार ही अपना व्याख्यान किया है-'ऊत्या-रक्षया सह, आ गमत् आगच्छतु' इति।

४. स्वर्णरम् (मं. १०९) पदकार ने यहाँ 'स्वः नरम्' यह पदपाठ दिया है, जो कि समस्त पद है। आचार्य शाकल्य ने भी ऋग्वेद में इसको समस्तपद के रूप में स्वीकार किया है-'स्वःऽनरम्' इति। आचार्य सायण आदि ने इसी के अनुसार इसकी व्याख्या की है। परन्तु सत्यव्रत सामश्रमी ने यहाँ पृथक्-पृथक् दो पद स्वीकार किये हैं स्वः, 'नरम्' इति, जो कि विचारणीय बात है क्योंकि गार्ग्य और शाकल्य दोनों आचार्यों ने अपने-अपने पाठों में इसको समस्त पद ही स्वीकार किया जाये। आचार्य रामनाथ ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है-'मोक्षानन्दस्य प्रापयितारं परमात्माग्निम् स्वः मोक्षादिसुखं नृणाति प्रापयति इति स्वर्णरः तम्। स्वः इति सुखनाम। नृ नये क्रयादिः।

आचार्य रामनाथ ने अपने सामभाष्य में पं. सत्यव्रत सामश्रमी के मत का उल्लेख करते हुए निम्न प्रकार समीक्षा की हैं-स्वः, नरम् इति पृथक् पदद्वयमिति पदकृत्पाठात् स्वरश्रुतेश्च स्पष्टमवगम्यते, विवरणकारश्चैवमेव व्याचष्टे-इति सत्यव्रत सामश्रमी। तत्तु चिन्त्यम् उपलब्ध पदपाठपुस्तकेषु समस्त पदत्वेनैव प्रदर्शितत्वात्। समस्तपदत्वेन स्वीकृते सति स्वरोऽपि संगच्छत एव स्वर इति 'न्यङ्स्वरौ स्वरितौ' इति स्वरितम्, तत्पुरुषेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः।

५. रथ्योर्हिता (मं. १६४) पदकार ने 'रथ्योः हिता' ऐसा पदपाठ किया है। इसको मानते हुए भरतस्वामी और आचार्य रामनाथ ने अपने व्याख्यान प्रस्तुत किये हैं। परन्तु आचार्य सायण ने अपना पदविभाग अलग

किया है। उन्होंने 'रथ्यः अर्हिता' यह पदच्छेद कर 'रथ्यः रथार्हः, अर्हिता आरोढा सोमःतादृशः पूषा सूर्यश्च' यह व्याख्यान किया है जो कि पदकार के विरुद्ध है।

६. द्युमद्गामन् (मं. १७७) पदकार ने इसको समस्तपद न मानते हुए इसका 'द्युमत् गामन्' पदपाठ किया है। परन्तु भरतस्वामी और माधव ने इसे समस्त पद स्वीकार किया है और तदनुकूल ही अपने अर्थ किये हैं जो कि पदकार आचार्य के विरुद्ध हैं। आधुनिक भाष्यकारों में आचार्य रामनाथ ने पदपाठानुकूल असमस्तपद मानते हुए ही अपना व्याख्यान किया है जो कि इस प्रकार है-'द्युमान् दीप्तिमान् विद्यादिसद्गुण प्रकाश युक्तः गामो गमनम् आचरणं यस्य तथाविधः द्युमान् द्योतनवान्। नि. ६/१९ गामा इत्यत्र गाङ् गतौ धातौः 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' ४/१४६ इति मर्निन्।' समस्तपद मानने वालों में से भरतस्वामी ओर विवरणकार माधव का व्याख्यान इस प्रकार है- 'कीदृशं स्तुतिरूपम् ? द्युम् स्वरसौष्ठवयुक्तम् इत्यर्थः। गामन्। गामान् गातो उच्चारयिता स्तोता। तस्य संबोधनं हे गामन् स्तोतरित्यर्थः' इति विवरणकारः। 'द्युमत् दीप्तिमत् स्तोत्रम्। हे गामन्। गायतीति गामा स्तोता। हे स्तोतः, इति भरतस्वामी।

७. दोषो (मं. १७७) पदकार आचार्य ने यहाँ 'दोषाः उ' इस प्रकार पदच्छेद किया है। इसके अनुरूप ही आचार्य रामनाथ ने अपना व्याख्यान किया है, यथा-'रात्रिः, अज्ञानमोहदुर्व्यसनदुराचारादीनां तमिस्त्रा। दोष पदरात्रि के लिए आया है, जैसे-'दोषावस्त र्धियाया वयम्' ऋ. १/१। परन्तु आचार्य सायण और भरतस्वामी ने पदकार और निघण्टु की मान्यताओं आदि से विरुद्ध अर्थ किया है। वे 'दोष आ' ऐसा पदविभाग मानकर अर्थ करते हैं। 'दोषः दूषयति नाशयति तमांसीति वा, दुनोति उपतपति रक्षांसि इति वा दोषः सविता' इति भरतस्वामी। 'दोषः ऋत्विग्-यजमानापराधेन यः कश्चिद्दोषः आगात् आगच्छति, तत्परिहारार्थं सवितारं प्रेरकम् एतन्नामकं देवं स्तुहि। यद्वा

दोष दूषयति नाशयति तमांसीति, दुनोति उपतपति रक्षांसीति वा दोष, से सविता आगात्' इति सायणाचार्यः।

८. बृहद्गाय-(मं. १७७) यहाँ पदकार ने असमस्तपद मानते हुए स्वरशास्त्रानुकूल 'बृहत् गाय' ऐसा पदपाठ किया है। सायणाचार्य को छोड़कर अन्य आचार्य रामनाथ आदि ने इस पदविभाग के अनुरूप ही अपने अपने भाष्य किये हैं सायण ने 'बृहद्गाय' ऐसा समस्तपद माना है। जो कि पदकार आचार्य के विरुद्ध है।

९. वरिवस्या (मं. १८६) पदकार ने यहाँ 'वरिवस्या'[७] पदपाठ स्वीकार किया है। आचार्य रामनाथ ने पदकार सम्मत ही व्याख्यान किया है, 'वरिवसां धनानां प्रदानेच्छा वरिवस्या'। हिन्दी में इसका अर्थ होगा 'धन प्रदान करने की इच्छा से' सामवेद में पठित यह मन्त्र ऋग्वेद में भी आता है। वहाँ पर यह 'वरिवस्य' ऐसा तिङन्त पद के रूप में है। इसी का अनुसरण करते हुए भरतस्वामी और सायणाचार्य ने यहाँ भी तिङन्त पद ही माना है। तथापि पदपाठ में 'वरिवस्या' ऐसा पाठ पदकार ने पढ़ा है. इससे पता चलता है कि वे क्रियापद के रूप में इसको नहीं मानते क्योंकि पदपाठ में दीर्घान्त क्रिपापद को पदकार सर्वत्र ह्रस्वान्त दिखाते हैं।

विवरणकार माधव ने संबुद्धि एकवचन में इसको मानकर व्याख्यान किया है जो कि सम्बुद्धि स्वर के अभाव में चिन्तनीय है। क्योंकि सम्बुद्धि में तो पादादित्व के कारण 'आमन्त्रितस्य च' सूत्र से आद्युदात्त होना चाहिए था। अतः विवरणकार का अर्थ पदपाठानुसार न होने से स्वरशास्त्र के बिल्कुल विपरीत है। विवरणकार का व्याख्यान इस प्रकार है-'वरिवस्या वरिवस्यः परिचरणीय तस्मात् सम्बुद्धयेक-वचनम्, तस्य स्थाने 'सुपांसुलुक्' इति आकारः हे परिचरणीय इत्यर्थः।'

१०. देवतातये (मं.२४९) देवतातये (पदपाठः) यहाँ पदकार को स्वार्थिक तातिल् प्रत्यय ही अभिमत है। आचार्य सायण ने इसका-'देवैः

स्तोतृभिः तायते विसतार्यते इति देवतातिर्यज्ञः' ऐसा व्याख्यान किया है, जिनमें से पहला पदकारानुकूल है और दूसरा प्राप्त पदपाठ के विपरीत है। भाष्यकार के ही शब्दों में -

१. देवतातये-देवजनकल्याणार्थं यद्वा विद्वज्जनैः विस्तार्यमाणाय यज्ञाय। देवशब्दात् 'सर्वदेवात् तातिल्' अ. ४/४/१४२ इति स्वार्थिकस्तातिल् प्रत्ययः। तस्य लित्वात् 'लिति' अ. ६/१/१८७ इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः।

२. यद्वा देवै र्विद्वद्भिः तातिः विस्तारो यस्य तस्मै यज्ञाय। देवताता इति यज्ञनामसु पठितम् (निघण्टु ३/१७)। बहुव्रीहित्वात् पूर्वपद-प्रकृतिस्वरः।

उक्त अर्थों में से पहला आचार्य सायण का अनुसरण करता है और दूसरा पदकार के पदपाठ प्रवचन के विरुद्ध है। क्योंकि पदकार 'देवतातये ऐसा' विच्छेद नहीं करते।

इससे ज्ञात होता है कि पदपाठ में सभी प्रतीयमान संभव अर्थों का संग्रह नहीं हो सकता। क्योंकि भाष्यकार आचार्य रामनाथ का पदपाठ सम्मत अर्थ करने के बाद अन्य संभाव्य प्रतीयमान अर्थ करना इस बात को स्पष्ट झलकाता है।

ये उपर्युक्त कतिपय विवेचित पद हैं जिनसे पदपाठ के आलोक में सामवेद के संस्कृत भाष्यों की परख होती है। सभी निर्दिष्ट पदों की इसी तरह विस्तृत विवेचना यदि की जाय तो इस निबन्ध का कलेवर बड़ा हो जायेगा। अतः अन्य कुछ पदों का संकेत मात्र हम निम्न चार्ट द्वारा कर रहे हैं-

| संहिता पाठ | पदपाठ | भाष्यकारों का पाठ | परिणाम |
|---|---|---|---|
| अगो रयिः | अ, गोः-रयिः | अगोः अयिः (सायण) | पदपाठ-विरुद्ध |
| आप तद् | आप-तत् | आपतत् (सायण, माधव, भरत) | पदपाठ और स्वरशास्त्र के विरुद्ध |
| त्वावसो | त्वा-वसो | त्वावसुः (माधव, भरत, सायण) | पदपाठ और स्वरशास्त्र के विरुद्ध |
| त्रि-शत् पदा न्यक्रमीत् | त्रिं शत् पदानि अक्रमीत् | त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत् (आ. रामनाथ को छोड़कर | |

| | | पदपाठ के विरुद्ध अन्य भाष्यकार) | |
|---|---|---|---|
| विव्रतानाम् | विव्रतानाम् | वि व्रतानाम् (माधव) | (आ.रामनाथ को छोड़कर पदपाठ के विरुद्ध अन्य भाष्यकार) |
| आद्वन्यथा | आत् उ अन्यथा | आद्वन् यथा (सायण) | (आ.रामनाथ को छोड़कर पदपाठ के विरुद्ध अन्य भाष्यकार) |
| अधद्राः | अधात् राः | अपद्राः (सायण) | मूलसंहिता और पदपाठ के विरुद्ध |
| | | अधत् (माधव) राः छोड़ दिया | |
| | | अधद्राः (भरतस्वामी) | |
| शम्बरम् | शम्बरम् | शम्बरम् (आचार्य रामनाथ) | पदपाठ-विरुद्ध, विदित हो कि आचार्य रामनाथ ने पदपाठानुकूल भी अर्थ किया है। |
| विषूवतः | विषुवतः वि-सुवतः | विषुऽवतः | सामवेदीय पदपाठविरुद्ध किन्तु ऋग्वेदीय पदपाठ |
| | (माधव,भरत, सायण) | | सम्मत। |
| रणा | रण | रणाः (सायण) | संहिता और पदपाठविरुद्ध |
| विवस्वते | वि वस्वते | विवस्-वत (माधव, भरतस्वामी) | पदपाठ विरुद्ध |
| तु न | तु नः | तुन (भरतस्वामी, सायण) | पदपाठ विरुद्ध |
| अपि याः | अपि याः | अपियाः (सायण,भरतस्वामी) | पदपाठ विरुद्ध |

उक्त सभी स्थलों पर भाष्यकारों में प्रायः आचार्य रामनाथ के व्याख्यान ही पदपाठ प्रवचनकर्त्ता आचार्य के अनुसार हैं, अन्यों के नहीं।

महामहोपाध्याय पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने लिखा है कि पदपाठ पश्चाद्वर्ती भाष्यकारों के पदप्रदर्शक होने से प्रारम्भिक भाष्य कहे जा सकते हैं और ये ऋषि-मुनियों द्वारा प्रोक्त होने से पौरुषेय हैं, अतः परतः प्रमाण हैं। उनमें कुछ न्यूनताएं रहनी स्वाभाविक है, जैसे-

१. अल्पज्ञता से भूल

२. सभी सम्भव अर्थों का असंग्रह

३. पदकार जिस व्याकरणशास्त्र के अनुसार पदविभाग अथवा अवान्तर पदविभाग आदि दर्शाता है, उसमें अन्य व्याकरण के अनुसार भेद संभव है।

निष्कर्ष यही है कि पदकारों द्वारा प्रदर्शित पदविभाग से भिन्न यदि पदविभाग किये जायें तो वे भी स्वरादि दोषों के अभाव में प्रमाण हैं। हमारे उपर्युक्त अनुशीलन में ऐसे कई उदाहरण है जिनसे इन बातों की पुष्टि होती है। इस अध्ययन से निम्न बिन्दुओं पर विशेषरूप से प्रकाश पड़ता है -

१. कि पदपाठ के प्रवचनकर्ता आचार्य ने कुछ स्थलों पर जैसे-मं.सं. ७८ और २५४ में क्रमशः 'अ सुरस्य' और 'अ सुरेभ्यः' पदपाठ कर भूल की है। क्योंकि वेदों में कहीं भी 'सुर' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। ऐसा ही भाष्यकार आचार्य रामनाथ विद्यामार्तण्ड का भी मानना है।

२. कतिपय भाष्यकारों ने मूलपाठ के विपरीत पाठ स्वीकार कर व्याख्यान किया है, जैसे-अधद्राः के स्थान पर 'अपद्राः' और 'मखम्' के स्थान पर 'मघम्'। भाष्यकारों की यह प्रवृत्ति घातक है। इसको उचित नहीं ठहरा सकते। अपौरुषेय वाणी वेद में इस तरह परिवर्तन कर व्याख्यान करना कालान्तर में क्षेपकों (Inter pollution) को जन्म दे सकता है। अतः विद्वानों को चाहिए कि वे माधव और सायण आदि भाष्यकारों के ऐसे स्थलों की समालोचना करें।

३. कुछ भाष्यकारों द्वारा पदपाठकर्ता आचार्य से भिन्न पदच्छेद कर व्याख्यान किए गये है।

४. कुछ भाष्यकारों ने जहाँ दो पदों को इकट्ठा करके एक समस्त पद के रूप में व्याख्यान किया है वहीं एक पद को विभक्त करके दो पदों के रूप में भी अपने भाष्य किये हैं। बृहद्देवताकार ने भी ऐसा उल्लेख किया है कि व्याख्यानकर्त्ता आचार्यों में यह प्रवृत्ति पायी जाती है। इसका उन्होंने यास्क के निरुक्त से उदाहरण दिया है।

'पुरुषादः-पदं यास्को द्विधा कृत्वा निरुक्तवान्' इति (देखो मैक्डानल सम्पादित बृहद्देवता का संस्करण)

५. कुछ स्थलों पर ऐसा भी देखा गया है कि भाष्यकारों ने पदपाठ की परवाह न करते हुए केवल मुद्रित संहितापाठ के अनुसार ही अपना व्याख्यान किया है।

६. इस अनुशीलन से यह भी ज्ञात हुआ कि सामवेद के सभी भाष्यकारों में केवल विद्यामार्तण्ड आचार्य रामनाथ के ही व्याख्यान (भाष्य) पदपाठ-सम्मत है अन्यों के नहीं। जहाँ इनको प्रतीयमान अन्य संभाव्य अर्थ प्रतीत हुआ है वहाँ भाष्यकार ने पहले पदपाठ के अनुसार व्याख्यान किया है बाद में अन्य संभाव्य व्याख्यान। इति।

सम्पर्क : गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-२४९ ४०४.

१. *पदाध्ययनमन्तादिशब्दस्वरार्थज्ञानार्थम्, अथर्वप्राति. ४/१०७*
२. *सम्पूर्णकार्यार्थविदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः।*
*पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणात्॥*
*मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च।*
*पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः॥ (ऋ.भा.भू. के अन्त में लिखित)*
३. *मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य पं. युधिष्ठर मीमांसक, बहलागढ़ सोनीपत, हरियाणा पृ. २३२।*
४. *वही, २३.१ पृ.।*
५. *अथाध्यात्मिकं वक्तुं सामवेदस्य कृत्स्नशः उत्तरार्चिक सामसंस्कार भाष्य का मंगलाचरण।*
६. *देखो मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य, पं. युधिष्ठर मीमांसक, पृ. २३३।*
७. *इस पद की निष्पत्ति आचार्य रामनाथ ने अपने भाष्य में इस प्रकार की है-*
*'वरिवस् इति धननाम। निघण्टु २/१०१*
*'छन्दसि परेच्छायां क्यच् उपसंख्यानाम्।' अ. ३/१/८ वा इति परेच्छार्थे क्यच्।'*
*न च्छन्दस्यपुत्रस्य। अ. ७/४/३४ इति ईत्वदीर्घयोर्निषेधः। क्यजन्तेभ्यः अप्रत्ययात्। अ. ३/३/१-२ इति भावे अः प्रत्ययः-ततष्टाप् तृतीयैकवचने 'वरिवस्था' इति प्राप्ते 'सुपां सुलुक् अ. ७/१/३९ इति तृतीयाया लुक्, पूर्वसवर्णदीर्घो वा।*

# सामवेद में उपासना तत्त्वों का एक विश्लेषण

**- डा. आचार्य ब्रह्मदत्त**

यह सर्वविदित है कि भारतीय संस्कृति में मानव जीवन का चरम लक्ष्य धर्म-अर्थ काम मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय की सम्प्राप्ति है। इस धर्म-अर्थ मोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थ के प्रेरक एवं सहायक वेद हैं। वेद ज्ञान-विज्ञान के भण्डार हैं संस्कृति के आधार हैं कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के बोधक एवं विश्वहित के सम्पादक हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि ऋग्वेदादि चार वेद संहिताएं संसार का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ समूह है। भारतीय परम्परा वेदों को परमपिता परमात्मा का शाश्वत ज्ञान मानती है। जबकि पाश्चात्य, अध्येता उन्हें आर्य ऋषियों द्वारा समय समय पर रचित मन्त्रों का संकलन मानते हैं। तथापि इस बात को लेकर कोई मतभेद नहीं है कि संसार के पुस्तकालय में ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है। वेद चतुष्टय के अन्तर्गत क्रमशः ऋग्-यजु-साम और अथर्ववेद की गणना होती है। मन्त्रों का समूह या संकलन होने से इन्हें संहिता कहा जाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने अपने ग्रन्थ में मन्त्र संहिता भाग को वेद माना है।

**सामवेद का महत्त्व :** - वैदिक वाङ्मय में उपासना का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है। उपासना को प्रधानता देने के कारण चारों वेदों में सामवेद का विशेष महत्त्व है। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में सामवेद को उपासना काण्ड में स्वीकार किया है। सामवेद में पूर्व और उत्तर दो आर्चिक हैं-ऋचा समूह हैं प्रायः ऋग्वेद की ऋचाएँ ही सामवेद में गायी गयी है। ऋचि 'अध्यूढं साम गीयते' (छान्दोग्य १-६-१) ऋचाओं में प्रतिष्ठित होकर साम गया जाता है। स्तुति में उपासक अपने 'इळस्पद' की स्तुति 'अग्निमीळे' से आरम्भ करता है और परि समाप्ति 'इळस्पदे समिध्यसे स नो वसुन्या भर'

से करता है। स्तुति का अर्थ है सद्गुणों की वृद्धि। अपने उपास्य देव के गुणों के सदृश अपने गुण बनाते जाना है। तब कहीं अपने उपास्य भी उपासक के लिये सूपायन-सु+उप+अयन हो जाता है आसानी से पहुँचने योग्य हो जाता है। उपास्य-उपासक की उपासना सिद्ध हो जाती है। यही अवस्था साम है, साम्य है, समाधि हैं।

पुरुष सूक्त में **तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे'। छन्दांसि जज्ञिरे। तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।** इस प्रकार वेदों की संख्या चार हुई और उनका क्रम ऋक्, यजुः साम और अथर्व हुआ। आर्य परम्परा में ऋग्वेद को विज्ञान, यजुर्वेद को कर्म का सामवेद को उपासना का और अथर्ववेद को ज्ञान का वेद माना जाता है। मानव यदि जीवन में सफलता प्राप्त करना चाहे तो उसे कर्म का वृक्ष लगाना होगा, विज्ञानरूपी आलवाल से रक्षा करनी होगी और उपासना के जल से सींचना होगा। तब कहीं व्यक्ति जीवन में 'अ-थर्व' 'निष्कम्प' स्थितधी-स्थितप्रज्ञ हो सकेगा। विज्ञान जीव उपासना का रूप धारण कर लेगा तभी कर्म-पल्लवित पुष्पित और फलित होगा। मनुष्य को जैसे वाणी, मन, प्राण और चक्षु की आवश्यकता है वैसे ऋग्, यजु, साम और अथर्व की आवश्यकता है। वाणी, मन, प्राण और चक्षु में प्रत्येक अङ्ग का अपना ही महत्त्व है परन्तु साम का महत्त्व सर्वोपरि है। यजुर्वेद के आधार पर हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद वाणी के तुल्य है, यजुर्वेद मन के तुल्य है और सामवेद प्राण के तुल्य हैं-तद्यथा **ऋचं वाचं प्रपद्य मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राण प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये।** सामवेद से शून्य व्यक्ति तो प्राणविहीन वाणी मन और चक्षु के तुल्य है। इनका कोई उपयोग न हो पायेगा। इसी महत्त्व को समझकर श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा **'वेदानां सामवेदोऽस्मि'** जो प्रतिष्ठा सामवेद की है वही प्रतिष्ठा मनुष्य-समाज में मेरी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक वाङ्मय में सामवेद का अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

**सामवेद में उपास्य देव :-** महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने चारों वेदों

का पठन-पाठन का मुख्य तात्पर्य ईश्वर को अनुभव करना माना है। उपासना के माध्यम से हम ईश्वरानुभूति कर सकते हैं। वेदों में परमात्मा को मुख्य और निज नाम ओ३म् को माना है। ओ३म् की उपासना वेदों में तथा वेदानुकुल आर्ष ग्रन्थों के यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है। पुनरपि वेदों में परमात्मा की चर्चा विभिन्न देवताओं की स्तुति प्रार्थना शैली में हुई। जैसे-इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, विष्णु, सविता, आदित्य आदि नामधारी भिन्न-भिन्न देवताओं को भक्त सम्बोधित करता है किन्तु वैदिक एकेश्वरवाद के सूत्र इस देवतावाद में सर्वत्र निहित है। विवेक शील लोग उसके गुण-कर्म के वैविध्य के कारण उसे नाना नामों से पुकारते हैं। सामवेद में प्रमुखतः उपासना तत्त्वों का विवेचन करना है इसलिये विभिन्न नामों वाले परमात्मा का स्वरूप ज्ञान-उसके गुण कार्य, पुरुषार्थ आदि की चर्चा के साथ साथ भक्त की प्रार्थना तथा उसके प्रति समर्पण भाव प्रतिपादक मन्त्रों का वर्णन करना इस शोध पत्रक का मुख्य तात्पर्य है। सामवेद के प्रथम आग्नेय काण्ड में 'अग्नि संज्ञक' परमेश्वर की विविध रूपा स्तुतियां प्रार्थना तथा उपासनाओं का उल्लेख हुआ है। इस काण्ड में ऋग्वेद के समान सामवेद का आरम्भ भी अग्नि के स्तवन से होता है। अग्न या याहि वीतये गृणानो हव्य दातये। नि होता सत्सि बर्हिषि। इस मन्त्र में तेज निधान तथा जीवों का मार्गदर्शक करनेवाले अग्रगन्ता परमात्मा से विनय की गई है कि वह भक्त के पवित्र हृदय मन्दिर में आकर विराजे। परमात्मा का आना जाना उपचार मात्र मानना चाहिये। इस मन्त्र से यह सिद्ध है कि परमात्मा के दर्शन और अनुभूति जीवात्मा अपने हृदयदेश में ही करता है। अगले मन्त्र में अग्निनाम धारी परमात्मा को यज्ञों का होता अर्थात् संचालक कहा गया है एवं **'विश्वेषां हितः'** निखिल सृष्टि का हितकारक बताया गया है। यह मन्त्र स्तुतिपरक है क्योंकि इसमें परमात्मा को निखिल सृष्टि का शुभचिन्तक कहा है। ऋग्वेद एवं सामवेद में अग्नि को देवदूत कहा गया है।

जितने लोकोपकारी तथा समाज हितकारी कर्म हैं वे सब यज्ञ कहलाते

हैं। यज्ञाग्नि में पुष्टिकारक मिष्टकारक रोगनाशक एवं सुगन्धिकारक सामग्री से डाली हुई आहुतियाँ अग्नि अपनी भेदक शक्ति से सूक्ष्म करके समीपस्थ एवं दूरस्थ वातावरण में फैलाकर दूषित वातावरण को शुद्ध करती है, तथा रोगों को फैलाने वाले सूक्ष्म कीटाणुओं को नष्ट करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करती है। यज्ञ कर्त्ता यजमान अग्नि देव से प्रार्थना करता है कि वे दूत संज्ञा बनकर हमारे द्वारा हूत किये गये पदार्थों को सर्वत्र प्रसारित कर दें। ज्ञान का प्रसारक होने से ज्ञानस्वरूप अग्नि को दूत संज्ञा दी गई है। 'अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्। साम.३। अर्थ : हम, होतारम् दिव्यगुणों का आह्वान करनेवाले विश्ववेदसम् विश्व के ज्ञाता विश्वभर में विद्यमान तथा आध्यात्मिक एवं भौतिक धन के स्त्रोत, अस्य इस अनुष्ठान किये जा रहे यज्ञस्य अध्यात्म यज्ञ के सुक्रतुम् सुकर्त्ता, सुसंचालक, ऋत्विज रूप अग्निम्-परमात्मा को दूतं वृणीमहे दिव्य गुणों के अवतरण में दूत रूप से वरण करते हैं। जैसे दूत, हमारे सन्देश का प्रियजन के सन्देश को हमारे पास पहुँचाकर उसके साथ हमारा मिलन करा देता है वैसे ही सत्य अहिंसा अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह न्याय विद्या, श्रद्धा सुमति इत्यादि दिव्यगुणों के और हमारे बीच में दूत बनकर परमात्मा हमारे पास दिव्य गुणों को बुलाकर लाता है इसलिये सब उपासकों को उसे दूत रूप में वरण करना चाहिये।

**प्रभु परमात्मा हमारे हृदय-मन्दिर में विराजमान हैं** - परमात्मा हृदय देश में विराज रहा है किन्तु उसके दर्शन तभी संभव है जब हम उसके लिये प्रयत्नशील होवे। सामवेद में अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इवेन सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिव ईड्यो जागृहवद्भिर्हविष्मद्भि-र्मनुष्येभिरग्निः। (साम. ७९) यहां वेद ने दो उदाहरण दिये पुराकाल में अरणियों को रगड़कर वेदी में अग्नि प्रज्वलित की जाती थी। दो ज्वलनशील अरणियाँ (समिधाएँ) जब यजमान द्वारा रगड़ी जाती थी तो उनसे अग्नि निकलती और यही अग्न्याधान कहलाता है। मानव के जीवन में ज्ञान और कर्मरूपी दो अरणियाँ विद्यमान हैं। इन्हें रगड़ने से अर्थात् प्रयुक्त करने से उपासना रूपी अग्नि उत्पन्न होती है।

हृदयदेश में स्थित परमात्मा के लिये एक अन्य उपमा गर्भिणी स्त्री के गर्भ में रह रहे भ्रूण से दी गई है जिस प्रकार गर्भवती स्त्री के गर्भ में रह रहा अजन्मा शिशु समुचित रूप से पोषण प्राप्त करता है उसी प्रकार परमात्मा का सेवन अन्तस्तल में किया जाता है। उसका ध्यान करने के लिये इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाना पड़ता है। वह अग्नि रूप परमात्मा जागरूक आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण आदि को हवि बनाकर समर्पित करने वाले अध्यात्मयाजी मनुष्यों द्वारा ईड्यः पूजा करने से अर्थात् स्तुति करने योग्य है।

सामवेद पूर्वार्चिक का द्वितीय अध्याय इन्द्र देवता को समर्पित है इसलिये इसे ऐन्द्रकाण्ड की संज्ञा दी गई है। वेदों के अध्येताओं से यह अविदित नहीं है कि इन ग्रन्थों में जिन देवताओं की सर्वाधिक स्तुति की गई है वे अग्नि तथा इन्द्र हैं। वेदों में वर्णित इन्द्र संज्ञक परमात्मा सर्वाधिक बलशाली न्यायपूर्वक संसार का शासन कर्त्ता परम दयालु नीतिमान् तथा सृष्टि का हितैषी है। अपार ऐश्वर्य और वैभव का स्वामी होने के कारण उसे 'इन्द्र' कहा जाता है।

**'इन्द्र शब्द पर ऋषि दयानन्द का विचार' :-** महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने कहा है  कि जैसे अग्नि देवता मुख्य रूप से तेज और प्रकाश का प्रतीक है वैसे ही इन्द्र देवता मुख्य रूप से ऐश्वर्य और वीरता का प्रतीक है। महर्षि ने निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाणों के अनुसार ही अपने ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य में इन्द्र शब्द का अर्थ परमात्मा-जीवात्मा सूर्य, अग्नि, वायु, विद्युत् राजा, या शत्रुओं को पराजित करने वाले सेना का सेनापति, शत्रुविजेता, योद्धा, दरिद्रता को दूर करने वाला शिल्पी, भूमि को विदीर्ण करने वाला किसान, विद्या से सम्पन्न परमैश्वर्यवान् विद्वान् तथा चिकित्सा कार्य द्वारा रोगों को नष्ट करनेवाला या रोगों को भगाने वाला चिकित्सक आदि विविध अर्थ किये हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग उपासना तत्त्वों का विश्लेषण है अतः इन्द्र शब्द अध्यात्म प्रक्रिया में परमेश्वर को वाचक मानकर स्तुति प्रार्थना और उपासना को सम्पादन करना है। ऐन्द्र पर्व के प्रारंभ में ही परमात्मा ने उपदेश दिया है कि परमात्मा की स्तुति करने से परमात्मा का गुणगान करने से परमात्मा  को

कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। वह तो अपने आप में (स्वयं) पूर्ण स्वरूप हैं किन्तु स्तुति करने वाले उपासक को सुख शान्ति और बल प्राप्त होता है। **तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने। शं यद् गवे शाकिने।** साम ११५

अगले मन्त्र में इन्द्र परमात्मा से याचना की गई है कि-यस्ते नूनं शतव्रतविन्द्र द्युम्नि तमो मदः। तेन नूनं मदेः नदेः। साम ११६

हे शतक्रतो=बहुत प्रज्ञाओं, कर्मों यज्ञों और संकल्पों वाले इन्द्र परमेश्वरशाली परमात्मन्। यः=जो ते=आपका नूनम् निश्चय ही द्यूम्नितमः= सबसे अधिक यशोमय मदः=आनन्द है तेन=उससे नूनन्=आज हमें भी मदे=आनन्द में मदे मग्न कर दीजिए। भावार्थ यह है कि-परमात्मा का आनन्द रस जिन्होंने चख लिया है, वे उस रस की कीर्त्ति को गाते नहीं थकते। वह रस रूपी है। यह तत्त्व वेत्ताओं का अनुभव है। सबको चाहिये कि उसके रसको प्राप्त कर अपने आपको धन्य करें।

**इन्द्र ही पूजनीय है, अर्चनीय है**- अर्चत प्रार्चता नरः मेधासो अर्चत। अर्चन्तु पुत्रकां उत पुरमिद् धृष्णवर्चत। साम. ३६२

अर्च पूजाय़ाम् धातु से अर्चा अर्चय जैसे शब्द निष्पन्न होते हैं। मनुष्य के लिये सर्वोपरि पूजनीय, अर्चनीय, भजनीय यदि कोई है तो वह परमात्मा ही है। प्रस्तुत मन्त्र में सामान्य नरों तथा-मेधा बुद्धि से प्यार करनेवाले प्रबुद्ध जनों को एकमेव इन्द्र ही पूजा अर्चा का पात्र बनाने का ही उपदेश है। उपासक को चाहिये कि उपासना आरम्भ करने से पहले वह यह जान ले कि उसे किसकी उपासना करनी है उसका आराध्य और उपास्य कौन है? ऐसा न हो कि वह अज्ञान और अविद्या में ग्रस्त होकर ऐसे व्यक्तियों और पदार्थों को पूजा-उपासना में लीन हो जावे जो हीन, तुच्छ तथा जड़ हैं। वेद ने बार-बार यह स्पष्ट किया है कि सच्चिदानन्द्रादि लक्षणान्वित चेतन, सर्वेश्वर अपाप-विद्ध, परमात्मा हो उसकी पूजा, उपासना एवं सत्कार का अधिकारी हैं।

**एक परमात्मा ही सबके द्वारा उपासनीय है :-** परमात्मा के गुणों का वर्णन के साथ साथ वेदों में यह स्पष्ट किया है कि परमात्मा ही एकमात्र

उपास्य अर्थात् उपासना करने के योग्य है यह उपदेश देते हुये वेद में लिखा है कि मित्रों ! आप लोग परमात्मा के स्थान पर (अन्यत्) अन्य किसी दूसरे की उपासना कभी मत करो (मा चित् विंशसत्) जो (मूर्त्ति आदि) उपासना के योग्य नहीं हैं उसकी उपासना करके अपनी हानि मत (मा रिषण्यत) करो। परमात्मा ही सुखों की वर्षा करने वाला है इसलिये परमात्मा की ही बार-बार (उक्था च शंसत) वेदमन्त्रों से परमात्मा की ही स्तुति करनी चाहिये, परमात्मा ही स्तुति प्रार्थना उपासना के योग्य है। (साम. २४२)

उपासक परमात्मा के साथ अपना स्नेह सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित करें सामवेद के इस मन्त्र से सूचित होता है-

अयमु समतसि कपोत इव गर्भधिम्। वचस्तच्चिन्न ओहसे।

(साम १८३)

अर्थात्-जैसे कबूतर घोंसला में स्थित शिशुओं के पालन के लिये घोंसले में जाता है वैसा ही परमेश्वर अपने शिशु उपासकों के पालन के लिये उसके पास जाता है। और जैसे कबूतर अपने शिशुओं के शब्द को उत्कण्ठा पूर्वक सुनता है वैसे ही परमात्मा स्तोताओं के स्तुति वचनों का प्रेमपूर्वक सुनता है। (उपमालंकार)

**प्रातः सायं प्रभु की उपासना**

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि।

मन्त्र का भाव यह है हम प्रायः सायं की मिलन वेला में अपनी बुद्धियों को केन्द्रित कर प्रभु के समीप जायें। यों तो सर्वत्र विद्यमान तथा सदा समीप रहने वाले ईश्वर का अनुभव हम प्रतिक्षण करते हैं किन्तु विशेष रूप से उनके दयालु, कृपालु स्वभाव का चिन्तन करने के लिये ऋषि मुनियों ने प्रातः सायं का समय उपयुक्त माना है। यही वह समय है जब हम अपने हृदय मन्दिर में उनके दर्शन करते है।

**उषाकाल से पूर्व-उपासना**

उपासना अथवा योगभ्यास के लिये सामवेद में उषाकाल को प्रशस्त

माना है उषः प्रारन्नृनूरनु दिवो अन्तेभ्यस्परी। साम. ३६७

अर्थात् जैसे प्रभात में सूर्योदय से पूर्व प्राची दिशा के आकाश में उषा प्रकाशित होती है, वैसे ही अध्यात्म साधना में तत्पर योगियों के हृदयाकाश में परमात्मा रूप आत्मप्रभारूप उषा खिलती है। स पवस्व मदिन्तम गोभिरञ्जानो अक्तुभिः। साम १२०९

इस मन्त्र में साधक को प्रेरणा दी गई है कि हे साधक। तू अपनी साधना में विशेष प्रगति के लिये शान्त रात्रियों में मनोनिग्रह कर ध्यान द्वारा परमात्मा में सर्वात्मना समर्पित हो जा। रात्रि में उपासना करने का लाभ बनाया गया है कि आधी रात के बाद ध्यान वृत्तियां साधक को विशेष रूप से प्रेरित करती है।

**उषाकाल में उपासना से लाभ :-** सामवेद में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि उषाकाल का ध्यानाभ्यास ही सर्वोत्तम है। इस वेला में अभ्यास करने से आत्मिक ज्योति जागती है। (उषा=अप स्वसुष्टमः सं वर्तयतिवर्तिनं सुजातता। (साम ४५१) उषा काल में ध्यान सम्यक् प्रकार से लगता है। प्रकृति में सत्त्वगुण का साम्राज्य होता है अतः मन में प्रसन्नता से तमोगुण का प्रभाव नहीं होता। (साम. १७२६-२८)

उषाकाल के बाद यदि साधना की जाएं तो प्रकृति में रजो गुण का संचार हो जाता है। पशु-पक्षियों का शब्द, ध्वनि विस्तारक यन्त्रों की ध्वनियाँ एवं मक्खी मच्छर का भय रहता है। उषाकाल व्यतीत हो जाने पर साधक के मन में पश्चात्ताप रहता है अतः सूर्योदय से जितने पहले साधना का अभ्यास किया जाए वही उपासक लिये श्रेष्ठ है। अस्तु-

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामवेद में ईश्वर प्राप्ति के लिये सर्वत्र उपासना तत्त्वों का विस्तृत रूप से वर्णन है।

सम्पर्क : महर्षि दयानन्द, आर्ष गुरुकुल कोलाघाट

पश्चिम बंगाल मो. ९७३५५०८३९०

# सामवेद के भाष्यकार एवं उनका वैशिष्ट्य

**- डॉ. वेद प्रकाश**

सामवेद की आर्चिक एवं गान दोनों प्रकार की संहिताओं के अवलोकन से यह विदित होता है कि सामगान का आधार ऋचाएँ हैं। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार **'या ऋक् तत्साम[१]'** अर्थात् जो ऋक् है वही साम है। अर्थात् ऋक् पर किया गया गान ही साम है। साम पद को सा और अम दो भागों में विभाजित किया गया है। सा रूपी ऋक् के साथ अम रूपी स्वर का मेल ही वास्तव में साम का सामत्व है[२]। अतः यह स्पष्ट है कि ऋक् तथा साम में अटूट सम्बन्ध है। भारतीय परम्परा में वेद के अभिप्राय को समझने के लिए वेद के भाष्यकारों के अवदान को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। सर्वाधिक प्राचीन भाष्यकार तो शाखा, गृह्यसूत्र, ब्राह्मण और पद-पाठ करने वाले आचार्यों को मानना चाहिए। महर्षि यास्क ने निरुक्त में वैदिक शब्दों का निर्वचन कर अर्थ की दुरूहता को दूर किया। सामवेद के निम्नलिखित भाष्यकारों का नाम हमें प्राप्त होता है -

**माधव -** सामवेद के उपलब्ध भाष्यकारों में माधव प्राचीन भाष्यकार हैं। इन्होंने सामवेद के दोनों ही भागों पूर्व आर्चिक एवं उत्तर आर्चिक पर अपने भाष्य की रचना की है, जिनका नाम क्रमशः छन्दसिका विवरण एवं उत्तर विवरण है। सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने द्वारा सम्पादित सायण भाष्य के संस्करण में इस भाष्य के कुछ अंश टिपण्णी के रूप में प्रकाशित किए हैं। देवराज यज्वा ने अपने निघण्टु भाष्य की अवतरणिका में सामभाष्यकार के रूप में माधव का उल्लेख किया है।

माधव के भाष्य का महत्व इसलिए है कि इन्होंने सामपाठ की व्याख्या की है, जो आर्च पाठ से भिन्न है। यथा -

**प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्। अग्ने रथं न वेद्यम्॥[३]**

ऋग्वेद के इस मन्त्र के अग्ने पाठ के स्थान पर सामवेद में अग्नि पाठ आया है।[४] इस प्रकार के अनेक पाठ-भेद ऋग्वेद एवं सामवेद में प्राप्त होते हैं। सी. कुन्हन राजा ने इनके भाष्य को सम्पादित किया है। इसका प्रकाशन सन् १९३८ में अड्यार लाइब्रेरी से हुआ है। इसके अतिरिक्त संस्कृत विभाग और भारतीय अध्ययन विभाग, हारवर्ड विश्वविद्यालय ने भी सन् २००० में इसका प्रकाशन किया।

**भरतस्वामी** – सामवेद के दूसरे भाष्यकार भरतस्वामी हैं। इन्होंने सामवेद की समस्त ऋचाओं पर व्याख्या की है। इनका भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त है तथा इन्होंने माधव से पर्याप्त सहायता ली है ऐसा प्रतीत होता है। सी. कुन्हन राजा ने इनके भाष्य को सम्पादित किया है। इसका प्रकाशन सन् १९३८ में अड्यार लाइब्रेरी से हुआ है। इसके अतिरिक्त संस्कृत विभाग और भारतीय अध्ययन विभाग, हारवर्ड विश्वविद्यालय ने भी सन् २००० में इसका प्रकाशन किया।

**सायण** – सायण का भाष्य पूरे १८७५ मन्त्रों पर उपलब्ध होता है। सायण का समय १३१५ ई. से १३८७ ई. तक माना जाता है।[५] इनका भाष्य कर्मकाण्डपरक है। सायण ने ऋग्वेद में प्राप्त सामवेद के मन्त्रों पर वही व्याख्यान किया है जो ऋग्वेद के मन्त्रों का किया है, जबकि इन मन्त्रों में अनेक स्थानों पर पाठ-भेद है। इसका प्रकाशन सन् १९३८ में अड्यार लाइब्रेरी से हुआ है। इसके अतिरिक्त संस्कृत विभाग और भारतीय अध्ययन विभाग, हारवर्ड विश्वविद्यालय ने भी सन् २००० में इसका प्रकाशन किया।

**रामनाथ विद्यावाचस्पति** – बंगवासी रामनाथ विद्यावाचस्पति १७ वीं शताब्दी के वैदिक विद्वान् हैं। इन्होंने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के विचारों की परस्पर तुलना करते हुए सामवेद के पाठभेदों पर भी प्रकाश डाला है।

**पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार** – इनका भाष्य सामवेद संहिता भाष्य के नाम से प्रकाशित हुआ है। इनकी दृष्टि में सायण के भाष्य से वेद में ऐतिहासिक तथ्यों की पुष्टि होती है जो उचित नहीं है। इन्होंने सामवेदीय

मन्त्रों का अन्वयानुसार भाष्य किया है। इसका प्रकाशन आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर से वि.सं. २००३ में हुआ है।

**वीरेन्द्र शास्त्री** – इन्होंने अपने सामवेद भाष्य ने पूर्ववर्ती सभी प्रकाशित सामवेद के संस्करणों का प्रयोग किया है। हिन्दी भाषा में होने के साथ ही यह भाष्य पद्धति में प्रयोग किया है। सामवेद के समस्त मन्त्रों का अर्थ उपासनापरक किया है।

**भगवदाचार्य** – इन्होंने सामवेद पर सामसंस्कार भाष्य लिखा है। भाष्यकार का उद्देश्य है कि वेद के सिद्धान्तों का ऐसा स्वरूप बाहर आना चाहिए जो सदा देश और काल की परिस्थितियों से अबाधित रहे। वेदों के ऐसे सिद्धान्त स्थिर किये जाने चाहिए जो किसी वर्ग, आश्रम, माननीय विभाग से दूर हो। भाष्यकार ने स्वयं को स्वरों से दूर रखा है। इसका प्रकाशन श्री रामानन्द साहित्य मन्दिर, भट्टा, अलवर, राजस्थान से १९५७ ई. में हुआ।

**आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री** – इन्होंने सामवेद का हिन्दी भाषा में भाष्य किया है। भाष्य में स्वामी दयानन्द की वेद भाष्य शैली को अपनाया गया है। अतः इन्होंने अपने भाष्य में वेद के इतिहास पक्ष का खण्डन किया है तथा यौगिक प्रक्रिया का आश्रय लिया है। कई मन्त्रों के ऋषि, देवता आदि का निर्णय पूर्ववर्ती सायण आदि भाष्यकारों ने नहीं किया अथवा संदिग्ध कह कर छोड़ दिया, उनका भी इन्होंने निर्णय किया है। साथ ही जो मन्त्र जितनी बार आया है उसका उतनी ही बार अर्थ किया है।

**स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड** – इनके भाष्य का नाम आध्यात्मिक भाष्य है। इनके अनुसार सायण का भाष्य कर्मकाण्डपरक है जो कि सामवेद के लक्ष्य से दूर है। इन्होंने मन्त्रार्थों में मन्त्रों के ऋषिनामों का भी उपयोग किया है। अतः ऋषिनाम यौगिक रूप में उपाधि वाचक हैं। इसका प्रकाशन गुरुकुल कांगडी हरिद्वार से १९७० में हुआ है।

**पं. विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड** – इनके भाष्य का नाम आध्यात्मिक भाष्य है। इन्होंने सभी मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ किया है। इनके अनुसार

सोम का अभिप्राय केवल औषधि ही नहीं है। वेद में काव्यात्मक वर्णन है अतः अर्थ-निर्धारण के समय मन्त्रों में निहित व्यञ्जना वृत्ति को भी स्वीकार किया जाना चाहिए। इसका प्रकाशन जन ज्ञान प्रकाशन, नई दिल्ली से वि.सं. २०३३ में हुआ।

**पं. श्रीराम शर्मा आचार्य** - पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने भी सामवेद के मन्त्रों की व्याख्या की है। इनके भाष्य पर सायण का अत्यधिक प्रभाव देखा जा सकता है। अतः सायण के भाष्य की त्रुटियाँ इनके भाष्य में भी आ गयी है। अतः यह भाष्य अत्यन्त साधारण स्तर का है। इसका प्रकाशन ब्रह्मवर्चस्, शान्तिकुञ्ज हरिद्वार एवं परिमल प्रकाशन दिल्ली से हुआ है।

अतः यह स्पष्ट है कि सामवेद पर प्राचीन एवं आधुनिक बारह भाष्य प्राप्त होते हैं। इनमें प्राचीन भाष्य संस्कृत भाषा में प्राप्त होते हैं तथा आधुनिक भाष्य हिन्दी भाषा में प्राप्त होते हैं। इन भाष्यों में सभी प्रकार की दृष्टि प्राप्त होती है यथा यज्ञपरक, आध्यात्मिक, यौगिक तथा लौकिक। सामवेद का अध्ययन आज ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के समान अधिक मात्रा में नहीं हो रहा है। अतः इन भाष्यों की सहायता से सामवेद का अध्ययन और अधिक मात्रा में हो सकेगा तथा वैदिक अध्ययन तथा शोध के क्षेत्र में वृद्धि हो सकेगी।

सम्पर्क : विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान,<br>पंजाब विश्वविद्यालय,<br>साधु आश्रम होशियारपुर (पंजाब)

**टिपण्णी :**

१. **छान्दोग्योपनिषद् १.३.४**
२. **एष उ एव साम वाग्वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्। बृहदारण्यकोपनिषद् १.३.२२**
३. **ऋग्वेद ८.७३.१**
४. **सामवेद ५**
५. **संस्कृत वाङ्मय का बृहद इतिहास, प्रथम खण्ड**

# सामवेद में संगीत एवं उसकी व्यापकता

**- प्रो. विमला आर्या**

सामवेद सामविद्या, गायन अथवा उपासना की विद्या है। पादबद्ध मन्त्रों का उद्‌गायन सामवेद है। सामवेद को उपासना का वेद कहा जाता है। इन्द्र की स्तुति में कहा गया है इन्द्र के लिए साम गाया जाए (**इन्द्राय साम गायत..** ऋग्वेद ८.९८.१)। अनेकों मन्त्रों में वर्णन है कि आराधक अपने आराध्य की अर्चना, उपासना, स्तुति, प्रशंसा साम गायन के उत्कृष्ट गेय स्वरों में करते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र (१०.९०.९१) में चार पुरोहितों-होता, उदगाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा का उल्लेख है। उद्‌गाता शुभ याज्ञिक कार्यों में आवश्यकतानुसर सामगान करता है। जैमिनि के मीमांसा सूत्र (२.१.३६) में 'गीतिषु सामाख्या' साम ही गीत है, यहाँ 'साम' शब्द संगीत, गायन के भाव को स्पष्ट करता है।

अथर्ववेद (१४.२.७१) में -

**अमो अहमस्मि सा त्वं सामाहमस्मि ऋक् त्वम्।**

**द्यौरहं पृथिवी त्वं। तावेव विवहावहै प्रजांप्रजनयावहै।**

अर्थात् मैं (पति) 'अम' हूँ और तू (स्त्री) 'साम' है। मैं 'साम' और तू 'ऋचा' है। 'द्यौ' मैं हूँ और तू 'पृथिवी' हम दोनों मिलकर यहाँ उत्पन्न होते रहें और हम दोनों मिलकर प्रजा उत्पन्न करें। उपर्युक्त मन्त्र में 'सा' का अर्थ ऋचा है और 'अम' का अर्थ 'आलाप' करना अर्थात् 'साम' का अर्थ सा+अम=साम, ऋचाओं के आधार पर किया गया, गान, संगीत है। बृहदारण्यकोपनिषद् (१.३.२.२) में 'साम' को ऋचा और 'अम' को गांधार आदि स्वर बताया गया है। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि सामवेद गीत, संगीत का वेद है। अब हम गीत, संगीत और सामन् शब्द के व्युत्त्पति पर विचार करें। गीत शब्द 'गै' धातु से बना है। इसमें 'सम्' उपसर्ग 'गै' धातु के पूर्व में लगाने से संगीत बनता है। 'सम्' उपसर्ग साथ, समानता, संतुलन,

शक्ति आदि भावों को व्यक्त करता है। सृष्टि और संगीत का सम्बन्ध सनातन, अभिन्न है। स्वर, लय, ताल के संयोग, संतुलन से संगीत पैदा होता है। प्रकृति के कण-कण में संगीत है। भिन्न-भिन्न प्राणियों में संगीत भिन्न-भिन्न हो सकता है, परन्तु संगीत सभी में है अवश्य। प्रत्येक प्राणी संगीत और गीतों का सर्जक है। संगीत सार्वभौम भाषा है। इसी के माध्यम से हम अपने विचारों, भावों संवेदनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। सामवेद की ऋचाओं में सार्वभौम भाषा के उदात्त स्वर हमें उपलब्ध होते हैं। 'सामन्' शब्द का अर्थ सुन्दर, सुखकर आनन्ददायक वचन भी है। 'सामन्' शब्द की व्युत्पत्ति **'समयति संतोषयति देवान् अनेन'** अर्थात् जो सुन्दर मंत्रों द्वारा देवों को सन्तुष्ट करें, यह है। दूसरी व्युत्त्पति ''स्यति नाशयति विघ्नम्'' जो विघ्नों को नाश करें, है। इस प्रकार सामवेद का उद्‌गाता सर्वाधिक सुखकर एवं आनन्ददायक संगीतमय मन्त्रों से देवों को प्रसन्न करता है। सामवेद के संगीत सुख-दुख से रहित आनन्दलोक के अनुभूति कराते हैं। सामवेद के संगीत प्राणियों में नयी आशा, नशी शक्ति का संचार करते हैं। इसीलिए सामवेद को संगीत विद्या का मूलग्रन्थ माना गया है। संगीत की गहराई तक पहुंचने के लिए सामवेद ही आधार है :- ऋग्वेद के एक मन्त्र (१.१६.५) में

**गीर्भिर् वरुण सीमहि सेम न स्तोमम् आगहि।**
**उपेद सवन सुतम् गौरो न ऋषितः पिब।**

अर्थात् हे वरेण्य ! हमारे गीत तुम्हे प्रिय हैं, इसीलिए हम तुम्हें अपने गीतों से बांधते हैं। जैसे प्यासा मृग तालाब का पानी पीकर तृप्त होता है, उसी तरह तुम मेरे गीत से तृप्त होकर आनन्दित होना। ऋचाओं के असंख्य स्वर, छन्द इसी संगीत के माध्यम से प्रार्थनायें बनी हैं। ये प्रार्थनायें भक्त को भगवान् तक पहुंचाने के लिए सीढ़ी का काम करती हैं। ईश्वर आनन्द स्वरूप है। ईश्वर के लिए ही उपनिषदों में **'रसो वै सः'** कहा गया है। इसी आनन्द-रस की प्राप्ति का लक्ष्य मानव मात्र को है। प्रकृति के कण-कण में संगीत

व्याप्त है। सामवेद के गीत पक्षियों की गीत की तरह मधुर है। परमोपासना का यह दिव्य माध्यम है। संगीत में तन, मन को विस्मृत कराने की असीम शक्ति है। संगीत में वैयक्तिक सद्भावना, सामाजिक समरसता, सांस्कृतिक चेतना को जागृत करने की अपार क्षमता है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् अपनी विभूतियों को वर्णन करते हुये कहते हैं कि **'वेदानां सामवेदो अस्मि'** मैं स्वयं साम वेद हूँ। छान्दोग्य उपनिषद् (३.३.१-२) में उल्लेख है कि सामवेद एक ऐसा पुष्प है जो मधुर-रस से परिपूर्ण है, उस पुष्प को संगृहीत करने वाले भंवरे, उसके साम है। वेद का महत्वपूर्ण शब्द ओम् (अ, उ, म्) शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्ति और शान्ति प्रदान करते हैं। 'ओम्' का जाप मन पर सकारात्मक प्रभाव डालते हुए, तनाव दूर करता है। प्रणव तथा उदगीथ ओम् के पर्यायवाची हैं, इसीलिए 'साम्नः उद्गीथो रसः' साम का रस उद्गीथ कहा गया है। सामगान में उद्गायन (गीथ) होता है। स्वर को ऊँचे आलाप से शुरु करके धीरे-धीरे नीचे आलाप पर लाते हैं, इस पद्धति से मन को अतीव शान्ति मिलती है।

अब हम सामगान पद्धति पर विचार करते हैं। वेदों के मन्त्रों को ऋचा एवं छन्द कहा जाता है। प्रायः सभी मन्त्र छन्दोबद्ध हैं। छन्दोबद्ध होने के कारण अधिकांशतः मन्त्र गेय हैं। गेय होने के कारण स्वरबद्ध भी है। वेदों के गायन की ध्वनि-पद्धतियों को ही सामगान कहते हैं, जिन्हें साम शाखायें कही जाती हैं। किसी समय सामगान की एक हजार स्वरध्वनियाँ थीं। 'स्वर' सामगान के प्राण हैं। छान्दोग्योपनिषद् (१.८.४) में प्रश्न है कि 'का साम्नो गतिरिति' साम की गति क्या है ?वेदों में तीन मूल स्वर उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित हैं। संगीत में सात स्वर हैं। वेद मन्त्रों के पाठोच्चारण में उक्त तीन स्वर वेद के मन्त्र-पाठ की गति के द्योतक हैं। चारों वेदों के मन्त्रोच्चारण की गति पृथक्-पृथक हैं।

स्वरों के लक्षण इस प्रकार हैं **उच्चैरुदात्तः**-'आयामो दारूण्य-मणुता

उच्चैः कराणि शब्दस्य' - अर्थात् जिन स्वरों का उच्चारण शरीर तथा गले को संकुचित कर, उक्त स्थानों से कड़ी ध्वनि की जाए, उसे उदात्त कहते हैं। **'नीचैरनुदात्तः'**- 'मार्दवमुरू ह्रस्वता नीचैः कराणि शब्दस्य' अर्थात् शरीर तथा गले को ढीलाकर उक्त स्थानों से गम्भीर, मधुर ध्वनि से स्वरों का उच्चारण करना अनुदात्त कहलाता है। **'समाहारः स्वरितः'** 'उभयवान् वा स्वरितः' जिसके उच्चारण में दोनों वर्णों के धर्म मिले हों वह स्वरित है। सुमधुर सुरीली आवृति के लिए उदात्त सबसे ऊँचा स्वर है। अपेक्षाकृत निम्न स्वर अनुदात्त और स्वरित मध्यम स्वर हैं। उक्त तीन मूल स्वरों के आधार पर लौकिक संगीत के षड्जादि स्वर प्रतिष्ठित हुए हैं। नारदीय शिक्षा (१.८.८) के अनुसार - उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभधैवते।

स्वरित प्रभवा ह्येते षड्जमध्यम पञ्चमा।

अर्थात् उदात्त की समानता लौकिक स्वर गान्धार या निषाद से, अनुदात्त की ऋषभ या धैवत से, स्वरित की षड्ज मध्यम और पञ्चम स्वर से की गई है। संगीत के समस्त स्वर ताल, लय, छन्द, गति, मन्त्र, स्वरचिकित्सा, नृत्य, मुद्रा, भाव, राग आदि सामवेद से ही निकले हैं। इतने महत्त्वपूर्ण विज्ञान के प्रादुर्भाव के लिए सामवेद जैसे स्वतंत्र वेद की रचना संगीत विद्या, नाद-विद्या, शब्द-विद्या की महत्ता को दर्शाता है। सामविधान-ब्राह्मण में सामगान के सप्तस्वर-मण्डल का वर्णन इस प्रकार है -

१. अतिक्रुष्ट (जिसमें देव गाते हैं) - प

२. प्रथम - (जिसमें मनुष्य गाते हैं) - म

३. द्वितीय - (गन्धर्व और अप्सरायें इस स्वर में गाती हैं) - ग

४. तृतीय - (ऋषभ आदि पशु इस स्वर में बोलते हैं) - रे

५. चतुर्थ - (पक्षी इसका प्रयोग करते हैं) - सा

६. पञ्चम - (राक्षसों द्वारा प्रयोग में लाये जाते हैं) - नि

७. षष्ठ - (अन्य प्राणियों, वनस्पतियों, औषधियों द्वारा

प्रयुक्त होते हैं) - ध

उपर्युक्त सप्तस्वर मण्डल ही अद्‌भुत आनन्द और शान्ति पैदा करने वाले संगीत की रचना करते हैं। सामविधान ब्राह्मण में स्वरों के छः अन्य विकारों की गणना है। इन छः विकारों में सामगान के सिद्धहस्त ऋषियों ने शब्दों के स्वरों को, उच्चारणों को आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किया है। नारदीय शिक्षा में सामगान-पद्धति के बहुत सारे नियमों की चर्चा है। कुछ सामगान को जादू-टोना से सम्बन्धित माना गया है। अर्थात् किस जादू-टोना कार्य के लिए किस साम का प्रयोग किया जाए, यह इसमें निर्देश है। एक ही मन्त्र के आधार पर कई-कई सामगान बनाये गये हैं और इन रचनाकारों के नाम उन गानों से जोड़ दिये गये हैं। यज्ञाहुति देने के क्रम के मन्त्रोच्चारण होता था। गेय मन्त्रों में लय, आरोह, अवरोह होना आवश्यक था। गुरु-मुख से विद्यार्थी स्वर और लययुक्त मन्त्रों का श्रवण करते थे। इस माध्यम से वेदमन्त्रों की रक्षा, पवित्रता, शुद्धता बहुत समयों तक होती रही इसीलिए वेदों को 'श्रुति' भी कहा गया है। प्रारम्भिक काल में ऋषियों द्वारा वाद्य-यन्त्रों के धुनों के साथ सभी राग मौखिक रूप से सीखाये जाते थे।

सामवेद और संगीत विद्या की व्यापकता पर शंका नहीं की जा सकती है। ललित कला-फाईन आर्ट्स में काव्य, संगीत और चित्रकला का समावेश होता है। वैदिक तीन स्वर एवं लौकिक सातस्वरों के अतिरिक्त आज तक किसी ने आठवाँ स्वर नहीं निकाला है। पुराणों में एक आख्यायिका है कि देवर्षि नारद आध्यात्मिक प्रगति जानने के लिए पूरी सृष्टि में भ्रमण किये। इसी क्रम में भक्तों ने नारद से कहा, हे नारद ! भगवत्प्राप्ति अति कठिन है अतः भगवत्प्राप्ति का कोई सरल मार्ग बतायें। नारद ने भक्तों से कहा, 'मैं स्वयं भगवान् से पूछकर बताऊँगा। नारद ने विष्णु भगवान् से कहा कि - हे भगवन् ! ऐसा सरल उपाय बतायें जिससे भक्तजन सहज से ही आपकी आनन्दमय रूप की अनुभूति कर आनन्द उठा सकें। विष्णु भगवान् ने कहा-

**नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वा।**

**मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद** (नारद संहिता)।

अर्थात् मैं न तो वैकुण्ठ में, न योगियों के हृदय में रहता हूँ, मैं तो संगीतमय भजनों को गानेवालों के हृदय में रहता हूँ। अक्षर परब्रह्म परमात्मा की अनुभूति के लिए संगीत साधना से बढ़कर अन्य कोई माध्यम नहीं है। प्रत्येक मन्त्र में अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, गायत्री आदि छन्द हैं। मन्त्र के उच्चारण की ताल, लय गतियाँ छन्द के अनुसार निर्धारित होती हैं। मन्त्र सिद्धि एक विज्ञान है। निर्धारित गति, लय, ताल के अनुसार उच्चारण ही मन्त्र-सिद्ध होता है, जैसे कि निर्धारित फ्रीक्वेन्सी पर बजाने से ही निर्धारित रेड़ियो स्टेशन पकड़ता है। स्वर साधना से योगी अपने को ब्रह्म में लीन कर लेते हैं 'स्वरेण संलीयते योगी'। गान करते समय ब्रह्मा जी के मुख से निकलने के कारण गायत्री नाम पड़ा - 'गायत्री मुखादुद्पतदिति च ब्रह्मणम्' (नि. ७.१२) संगीत और प्रेम दोनों ही उत्पादक शक्तियाँ हैं। महान् चिन्तक टैगोर के अनुसार 'स्वर्गीय सौन्दर्य का कोई साकार रूप और सजीव प्रदर्शन हो तो उसे संगीत ही होना चाहिए'। एक दिव्य संगीत सभी दिशाओं, प्रदिशाओं, भुवन-त्रिभुवनों को झंकृत किये हुये हैं। गाते समय मुंह, जीभ और तालु अपना-अपना कार्य करते हैं। स्वर-लहरियाँ नाभि से ऊपर के हिस्से का भीतरी व्यायाम होता है। द्रुत, विलम्बित और मध्यम लय से गाये गये संगीत से स्वरवाहिनी नलिकाओं, नाड़ी संस्थान, हृदय की रक्त वाहिनी धमनियों, जीभ, वक्षस्थल, फेफड़ा आदि में सक्रियता आती है। अतः ये सब अंग सबल, निरोग बनते हैं। बीन, शहनाई, बासुरी आदि जो यंत्र मुँह से बजाये जाते हैं, उससे श्वासनली, फेफड़े, जीभ आदि स्वस्थ, सबल होते हैं। पशु-पक्षियों पर भी संगीत का प्रभाव पड़ता है। साँप वेणुनाद सुनते ही अपनी कुटिलता को छोड़कर फण लहराने लगते हैं। गायों के स्नायु-संस्थान पर इतना प्रभाव पड़ता है कि वे संगीत से मन्त्रमुग्ध होकर १५ से २० प्रतिशत दूध ज्यादा देती हैं। गायें दूध

ज्यादा दें इसके लिए गाय दूहते समय मधुर-संगीत उन्हें सुनाया जाता है। सृष्टि को संचालन करने वाले अदृश्य कम्पन में एक अद्वितीय दिव्यता, मधुरता और शान्ति है। इस दिव्य-ध्वनि को जो व्यक्ति जितनी अन्तराल-गहराई से अनुभूति करेगा, उसे उतनी ही दिव्यता, आत्मसुख, शान्ति की अनुभूति होगी। प्राचीन युग में बड़े-बड़े युद्ध होते थे, सैनिकों में शौर्य, साहस, उमंग पैदा करने के लिए बीन, झांझ, बिगुल, नगाड़े आदि का प्रयोग संगीत के साथ किया जाता था। शत्रु-पक्ष को हराने के लिए भय, निराशा, शिथिलता, वैराग्य-भाव पैदा करने के लिए इसी के अनुरूप ध्वनि-लहरियाँ और संगीत का प्रयोग किया जाता था।

संगीत एक शक्ति है, इसका सदुपयोग, दुरुपयोग दोनों ही सम्भव है। शास्त्रीय संगीत का पाश्चात्त्यकरण हो गया है। संगीत के सम्मोहक शक्ति से युवकों को कामासक्ति की ओर खींचा जा रहा है। तेज शोर वाला डिस्कों, रैप रॉक संगीत जैसी नयी-नयी विधायें संगीत में आ रही हैं, ये वास्तविक संगीत नहीं है, किन्तु युवकों को उत्तेजित, रोमाञ्चित कर वासनात्मक संसार में ले जाने वाला संगीत है। रॉक संगीत से हृदय और कैंसर-रोग की वृद्धि होती है। ब्लैक संगीत फेफड़े, आंतें, स्तन, त्वचा की कैंसर-कोशिकाओं में २५ प्रतिशत की वृद्धि करता है। कर्णकटु संगीत मिर्गी के लिए जानलेवा होता है। वर्तमान में कामुकता को भड़काने वाली दुष्प्रवृत्ति का दूसरा नाम संगीत बन गया है। संगीत के नाम पर अश्लीलता और भौड़ापन बढ़ रहा है, अतः इसे रोका जाना चाहिए। सामगान की समृद्ध परम्परा आज लुप्त हो रही है। इस प्राचीन परम्परा को जीवित रखने का प्रयास किया जाना चाहिए।

सम्पर्क : डी-१२३, पी.सी.कालोनी,

कंकड़वाग, पटना २०.

मो. ९४३०९१९३०३

# क्या सामवेद की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं ?

- डॉ. पवित्रा विद्यालंकार

कतिपय भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि सामवेद की स्वतंत्र सत्ता नहीं है, अपितु यह गान के निमित्त संगृहीत ऋचाओं का संकलन मात्र है। ऋग्वेद सहित सामवेद के संबंध के विषय में कुछ भ्रान्तियां हैं जिनका निराकरण आवश्यक है।

**प्रसंग १ :** "आर्य संस्कृति के आधार ग्रन्थ" में लेखक बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि 'सामवेद' का संकलन उद्गाता ऋत्विक् के निमित्त किया गया है। यज्ञ के अवसर पर जिस देवता के लिए होम किया जाता है, उसे बुलाने के लिए उद्गाता उचित स्वर में उस देवता का स्तुति-मंत्र गाता है। गायन को 'साम' कहते हैं। ये ऋचाओं के ऊपर ही आश्रित होते हैं। ऋचायें ही गायी जाती हैं। इसलिए समग्र सामवेद में ऋचाएं ही हैं। इसकी संख्या १५४९ है जिनमें केवल ७५ ऋचायें ही स्वतन्त्र हैं जो ऋक् संहिता में उपलब्ध नहीं होती। इसलिए सामवेद की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी जाती[१]।

**प्रसंग २ :** भारतीय विद्याभवन मुम्बई द्वारा प्रकाशित 'The Vedic Age' के अनुसार सामवेद के प्रायः सब मंत्र ऋग्वेद से लिये गये हैं अतः उसकी पृथक् कोई सत्ता नहीं है। केवल सोमयागादि में गान के लिए ही उसका उपयोग है।

1. The Sama Veda hardly counts at all as an independent text - Vedic Age P. 225

2. The literary and Listorical Value of the Sam a Veda is, therefore, practically mil, though its importance for the Soma ritual can not be overestimated - Vedic Age P. 250

इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग 'वैदिक एज' में किया गया है। जहां तक ऐतिहासिक महत्त्व का प्रश्न है वह तो किसी वेद का भी नहीं है। वे तो दिव्य सार्वभौम ज्ञान का भंडार हैं जिनमें से भ्रम से जबरदस्ती इतिहास निकालने का प्रयत्न किया जाता है और जब उसमें सफलता नहीं मिलती तो

'वैदिक एज्' के लेखकों की तरह अन्यों को भी स्वीकार करना पड़ा है कि -

Naturally it (Rigueda) is poor in historial data. - Vedic Age. P. 225

अर्थात् स्वाभाविकतया ऋग्वेद ऐतिहासिक सामग्री में बहुत निर्धनसा है।

**समीक्षा १ :-** किन्तु सामवेद के विषय में यह लिखना कि सिवाय यज्ञों में गीत के अतिरिक्त इसका कोई महत्त्व नहीं और इसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं, प्रायः सारे मंत्र ऋग्वेद से लिये गये हैं, यह सर्वथा अशुद्ध हैं। यदि सामवेद की पृथक् और स्वतंत्र सत्ता न होती और यह ऋग्वेद से ही लगभग सारा लिया हुआ होता तो ऋग्वेद में सामवेद और उसके गीतों का अनेक स्थानों पर निर्देश न होता जैसा किं इसके कतिपय कारणों पर चर्चा करते हैं- निम्नलिखित तथा अन्य मंत्रों में पाया जाता है[२]।

**समीक्षा २ :-** यदि 'साम' या 'गान' के लिए ही संकलित मंत्रों का संग्रह सामवेद होता तो इसमें केवल वे ही मंत्र होते जो साम गान के लिये अपेक्षित थे। परन्तु ऐसा नहीं है। सामवेद में ४५० मंत्र ऐसे हैं, जिन पर गान नहीं होता, ऐसे मंत्रों का संग्रह सामवेद में नहीं होना चाहिए था।

सामवेद में ऋग्वेदीय मंत्र १५०४ + पुनरुक्त २४६=१७७१

सामवेद में नवीन मंत्र ९९+पुनरुक्त ५=१०४

कुल मंत्र संख्या १८७५

सामवेद में ऋग्वेद से लिए गए अधिकांश मंत्र मंडल २ और ९ से हैं। ऋग्वेद के नवम् मंडल से संगृहीत मंत्र ६४५ और अष्टम मंडल से ४५० मंत्र हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के शेष सभी मंडलों से भी कुछ मंत्र लिये गये हैं। इनमें प्रथम मंडल से २३६ मंत्र और दशम मंडल से ११० मंत्र हैं। शेष मंडलों से गृहीत मंत्रों की संख्या न्यून हैं।

**३. :** सामवेद में प्राप्त अधिकांश ऋग्वेदीय ऋचाओं में आंशिक साम्य है। कहीं पर पाठभेद है, कहीं पर पाद-व्यत्यय है। कहीं अपूर्ण ऋचा है यदि वस्तुतः ऋग्वेद से ये ऋचाएं ली गई होती तो इसमें पाठभेद आदि नहीं

होता और ऋचा आंशिक न होकर पूर्णरूप से ली जाती। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं[३]।

४. : यदि सामवेद के मंत्र ऋग्वेद से ही लिये गये होते तो सर्वथा या अंशतः ऋग्वेद क्रम से ही होते। परन्तु ऐसा नहीं है।

५. : ऋग्वेद और सामवेद में स्वरांकन पद्धति में पूर्णतया भेद है। ऋग्वेद में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित चिह्न पृथक् हैं। जबकि सामवेद में १,२,३ अंक हैं। ये नारदीय शिक्षा के अनुसार क्रमशः मध्यम (म) गान्धार (ग), और ऋषभ (रे) स्वर के बोधक हैं। ऋग्वेद के मंत्र द्रुत गति से बोले जाते हैं और सामवेद के विलम्बित (बहुत धीमी) गति से बोले जाते हैं।

६. : ऋग्वेद में स्वयं सामवेद से संबद्ध ये शब्द ३७ बार आये हैं। जैसे-साम (१३बार), सामगा इव (१), सामगाम् (१), सामन् (३), साम्नाम् (१), सामनौ (१), सामान्यः सामभिः (४), सामानि (४), साम्नः (१), साम्ना (१), साम्नि (२), आदि[४]। ऋग्वेद में साम, सामानि, सामगा आदि शब्दों का ३७ बार उल्लेख सिद्ध करता है कि सामवेद और सामगान की प्रक्रिया ऋग्वेद से प्राचीन है।

७. : ऋग्वेद में स्वयं ऋग्, साम और यजु की एक साथ सत्ता स्वीकार की गई है[५]। अथर्ववेद में भी यही वर्णन प्राप्त होता है[६]। मनुस्मृति में भी वर्णन आता है कि ये वेद सनातन (नित्य) है और उनकी उत्पत्ति क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्य से हुई है[७]। शतपथ ब्राह्मण की निम्न कंण्डिका में भी वर्णित किया गया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद परमात्मा ने अपने स्वाभाविक ज्ञान से 'यथापूर्वम् अकल्पयत्'। जब-जब सृष्टि की रचना पूर्व या वर्तमान में की या वह प्रलय के अनन्तर करेगा, उस समय वह ज्ञान स्वाभाविक रूप में इस प्रकार प्रकट कर देता है कि जैसे श्वॉस-प्रश्वॉस की क्रिया मनुष्य शरीर में सहज भाव से होती है[८]।

८. : आचार्य सायण आदि भी सामवेद की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं, अतएव उन्होने ऋग्वेद के बाद सामवेद पर स्वतंत्र भाष्य लिखा है।

**९. :** 'ऋचि अध्यूढं सामगीयते' छान्दग्योपनिषद् के इस कथन का भाव है कि ऋचा का आश्रय लेकर सामगान होता है। ऋचा ऋग्वेद और सामवेद दोनों में हैं। सामवेद की प्राचीन शाखाओं में ये ऋचाएं थीं। इन शाखाओं का ही वर्तमान रूप सामवेद है[९]।

**१०. :** ऋग्वेद में ४ ऋत्विजों में सामगानकर्ता का उद्गाता के रूप में उल्लेख मिलता है[१०]। इसी मंत्र में शक्वरी धन्व में गान का वर्णन है। बृहत् साम और रथन्तर साम आदि का ऋग्वेद में उल्लेख है। इस तरह ऋग्वेद से पहले सामवेद की सत्ता ज्ञात होती प्रतीत होती है।

**११. :** सामवेद में ऋग्वेद से मौलिक अंतर है। दोनों की विभाजन पद्धति पृथक् है। ऋग्वेद में मंडल और सूक्त है। सामवेद में कांड, अध्याय, दशति आदि हैं। दोनों की विषयवस्तु भिन्न है। सामवेद का मुख्य विषय उपासना है और ऋग्वेद का ज्ञान। दोनों का कार्य भिन्न है। ऋग्वेद देवस्तुति हैं और सामवेद संगीत ।

**१२. :** यजुर्वेद में सामवेद का निर्देश स्पष्टतः प्राप्त होता है। यजुर्वेद के अनेक स्थानों पर साम के गानों के नाम पाये जाते हैं[११]।

अन्त में ऋग्वेद के जो भी मन्त्र सामवेद में प्राप्त होते हैं उनके विषय में यह जान लेना चाहिए कि सामवेद में उनके भक्तिप्रधान आध्यात्मिक अर्थों की ही प्रधानता है, जबकि ऋग्वेद में ज्ञान और यजुर्वेद में कर्मपरक अर्थ की प्रधानता है। उक्त विवरण से प्रतीत होता है कि सामवेद की स्वतंत्र सत्ता है। यह पूर्णतः ऋग्वेद पर अर्जित नहीं है, अपितु स्वतंत्र सामवेदीय प्राचीन शाखा पर अर्जित है।

सम्पर्क : सेक्टर गामा २, जी-७५२
ग्रेटर नोयड़ा (गौतमबुद्ध नगर)

**सन्दर्भ :**

**१. आर्य संस्कृति के आधार ग्रन्थ। ले. बलदेव उपाध्याय प्रकाशक नन्दकिशोर एण्ड सन्स चौक वाराणसी १९६२ पृष्ठ ४४.**
**२. अङ्गिरसां सामाभिः स्तूयमानाः। ऋक् १-१०७-२**

अङ्गिरसो न सामभिः । ऋक् १०-७८-५
उभौ वाचौ वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानु राजति।
उद्गातेव शकुने साम गायति, ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि। ऋक्. २-४३-२
यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति। ऋक्.५-४४-१४
उपर्युक्त मन्त्रों में यहां उद्गाता, सामगादि का स्पष्ट वर्णन है। तथा सामवेद के सामों का ऋग्वेद की ऋचाओं के साथ-साथ वर्णन है। जिससे सामवेद की स्वतंत्र सत्ता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

३. ऋग्वेद पाठ-अपो महि व्ययति। ऋक् ७-२१-१
सामवेद का पाठ अपी मही वृणुते। मंत्र ३०३
● ऋग्वेद - अरं वहन्ति मन्यवे। ऋक् ६-१६-४३
सामवेद - अरं वहन्त्याशवः। मंत्र २५
इसी मंत्र में ऋग्वेद में 'यक्ष्वा' प्रयोग है और सामवेद में 'युङक्ष्वा'।
इसी प्रकार शब्दों की वर्तनी में भी अंतर है।
● जैसे-ऋग्वेद इदं विष्णु .... पांसुरे। (ऋक् १-२२-२७)
सामवेद-पांसुले (मंत्र १६६९)
इसी मंत्र में ऋग्वेद में 'समूहलम्' पाठ है सामवेद में 'समूढम्'।
● ऋग्वेद में परित्यं इहर्य हरिम्। ऋक् ९-९२-७ का केवल एक पाद ही सामवेद में 'परि त्यं हर्यतं हरिम् (मंत्र १६८१) दिया गया है। शेष तीन पाद छोड़ दिये गये हैं। यह आंशिक साम्य है।

४. कुछ संदर्भ साम ऋक् १-६२-२, २-४३-२, सामगा (२-४३-१)
सामभिः (१-१०७-२), सामानि (५-४४-१४ और १५)
साम्नः (२-२३-१६), साम्ना (२-९५-६), साम्ने (२-४-१६)

५. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जाहीरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत। ऋक् १०-९०-९, यजु. ३१-७

६. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः। अथर्व. ११-७-२४

७. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्।
दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थ ऋग्यजुः सामलक्षणम्। यजु. १-२३

८. एवं अरे अस्य महतो भूतस्य निःएवसितम्।
एतद् यद् ऋग्वेदो, यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः। शत.ब्रा.१४-५-४-१०

९. ऋचा त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वा गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वा वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रा वि मिमीत उत्व। ऋक् १०-७१-११

१०. रथन्तरम् यजु. १०-१०, बृहत् यजु. १०-११, वैरुपम् १-१२
वैराजम् १०-१३, वैखानसं बामणदेव्यम् यज्ञायज्ञियम १२-४

११. शाक्वरं रैवतम् १०-४ गायत्रं, गौरिवीतम्-अथीवर्तम्, प्रजापति हृदयम इत्यादि।

# सामवेद में सोमस्वरूप

- डॉ. सोमदेव शतांशु

वेदों में सामवेद का स्थान अन्यतम है। **वेदानां सामवेदोऽस्मि...** एवं सामपुष्पं इत्यादि वाक्यों से साम की महत्ता परिस्फुट है। आधुनिक विद्वान् सामवेद को पृथक् वेद के रूप में अस्तित्व स्वीकारने में अनेक प्रश्न उठाते हैं। सामवेद की मन्त्रसंख्या १८७५ ही मान लें तो मात्र ९९ मन्त्र ही सामवेद के हैं। गान की दृष्टि ऋग्वेद की गेय ऋचाओं का पृथक् संकलन किया गया है तो ऋग्वेद में अन्य भी बहुत सारे मन्त्र हैं जिनमें सामस्वर लग सकते हैं, उनका सामवेद में क्यों समावेश नहीं किया गया ? उपासना या भक्तिपरक अर्थ करना था तो ऋग्वेद में रहते हुए ही उनकी भक्ति उपासना परक व्याख्या हो सकती थी। पुनः अलग वेद के रूप में व्यवस्थापन की क्या आवश्यकता है? इत्यादि प्रश्न उपस्थापित करते हैं। सामवेद की आवश्यकता पर ही प्रश्नचिन्ह उठाते हैं।

इस विषय में किञ्चित विवेचन कर विषय पर चर्चा करते हैं। **सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः** इसकी अन्य वेदों की अपेक्षा प्राचीन काल से इसके प्रचाराधिक्य को आख्यापित करता है। जहाँ वर्णों की उत्पत्ति वेदों से बताई गयी है, वहाँ ब्राह्मणवर्ण की उत्पत्ति सामवेद से मानी गयी है[१]। इससे भी सामवेद की प्रमुखता सिद्ध होती है। प्राचीन काल में ब्राह्मण सामवेद अवश्य पढ़ते थे अन्य वेद पढ़ें या नहीं। सामवेदीय मन्त्रों की महत्ता बताते हुए कहते हैं। ऋक् सामग्री है-इसीसे संसार की समस्त मूर्त्तियाँ बनी हैं-ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः ... तै.ब्रा. ३/१२/९/१ और सामरूपी प्राण ऋक् से सामग्री लेकर विविध रूप को निर्माण करती है-जैसे सूर्य रश्मियाँ पृथिवी पर औषधि वनस्पति का आकार प्रदान करती हैं। एतदतिरिक्त जैसे अन्तःसाक्ष्य भी यही कहता है जैसे अन्य वेद परमात्मा से प्राप्त होते हैं वैसे ही सामवेद भी

परमात्मा से प्राप्त हुए हैं। छान्दोग्योपनिषद् में जो उपमा-पुरुष साम है-स्त्री ऋक् है, इसी प्रकार सूर्य साम पृथिवी ऋक् है। सूर्य से पृथिवी ऊर्जा प्राप्त कर निर्माण करती है। पृथिवी से सूर्य ऊर्जा नहीं प्राप्त करता है।

छान्दोग्योपनिषद् के या ऋक् तत्साम इसका भाव जो ऋक् है वह साम है-ऐसा अभिप्रेत नहीं है यह तो साममन्त्रों की विकृति अवस्था का वर्णन है।

छान्दोग्योपनिषद् में ऋक् और साम का नित्य सम्बन्ध माना है। इस पर शंकराचार्य लिखते हैं-पृथिव्यग्निदूयं नित्य संश्लिष्टम् ऋक् सामनी इव-पृथिवी अग्नि की पृथक् कल्पना तो सम्भव है-किन्तु विना अग्नि के पृथिवी एक क्षण भी नहीं ठहर सकती। इस प्रकार सामवेद में विना साम के ऋक् रह ही नही सकती। केवल ऋचा साम नहीं हो सकती।

सामवेद का सम्बन्ध सूर्य (द्युलोक) से है। साम की आत्मा व निजरूप स्वर है। विना स्वर के संगीत के साम का कोई महत्व नहीं। स्वर ध्वनि एक बहुत बड़ा विषय है। भारतीय वाङ्मय तो इसकी महिमा से भरा पड़ा है-आज उसको प्रत्यक्ष कर दिखाने की आवश्यकता है।

शब्द संगीत अथवा ध्वनि का चराचर जगत् सब पर प्रभाव पड़ता है। इस विषय पर वैज्ञानिक नित्य अनुसन्धान रत है। युद्धभेरियों से वीरों के अंग फडकना, कारुणिक गीतों से हृदयद्रवित होना हम लोग सभी अनुभव करते हैं। विश्वास करते हैं, परन्तु सूक्ष्म जगत् में जो प्रभाव हो रहा है उसे हम नहीं अनुभव कर पाते। भगवान् की तरफ से सूक्ष्म ध्वनि तरंगों से जो निर्माण, प्रभाव व विनाश हो रहा है वह तो चल ही रहा है मनुष्य भी स्वर संगीत ध्वनि से बहुत कुछ शक्ति प्राप्त कर सकता है।

साम के स्वर नित्य हैं-उच्छिष्टे स्वरः साम्नो (अथर्व. ११/७/५) उच्छिष्ट रूप भगवान् में स्वर निहित हैं। साम लोक के सदृश है। अर्थात्

स्वर परमात्मा के चारों ओर विद्यमान हैं। अर्चना करते हुए महान् साम को अपने अन्दर जागृत किया जा सकता है। अथर्व में कहा है सूर्य अपनी अर्चियों द्वारा प्रज्ञाओं की दिशाओं को स्वरयुक्त करता है[८]। मनुष्य की प्रज्ञा की दो दिशाएँ हैं-बाह्य विषय भोगी, दूसरी आन्तरसाधना की। जब आन्तरिक नाद साधना द्वारा शंख, घण्टा, वीणा आदि का नाद सुना जा सकता है। तो सर्वत्र व्याप्त साम स्वरों को भी सूक्ष्म प्रज्ञा से सुना जा सकता है। शिव संकल्प सूक्त के मन्त्र भी यही संकेत करते हैं (... तन्मे मनः शिवसंकलामस्तु)। हम अन्तर्मुख होकर सामस्वर को भगवान् से प्राप्त कर सकें।

इसके अलावा इस लोग ब्राह्मण प्रतिपादित बृहद् रथन्तर, वैराज साम, शाक्वर साम, रैवत साम की उत्पत्ति एवं उनके महत्त्व के बारें में चिन्तन करें तो साम के सामवेद के स्वरों का महत्व ज्ञात होगा।

सामवेद को हम उपासना काण्ड मानते हैं। उपासना का लक्ष्य अमृतत्व परमानन्द प्राप्ति है। सामवेद में सोम इसका एक प्रमुख साधन है।

सोम शब्द प्रसव ऐश्वर्य प्रेरणा अभिषव्नार्थक षु धातु से निष्पन्न विभिन्नार्थों का वाचक है। आचार्य यास्क के अनुसार सोम ओषधि विशेष है।

ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक वस्तुओं को सोम कहा गया है यथा -

१. पर्ण, २. वर्च, ३. इन्दु, ४. यजमान, ५. ज्योति, ६. श्री, ७. विष्णु, ८. वायु, ९. देव सोम, १०. आपः, ११. सत्यं श्री ज्योति, १२. पलाश, १३. दधि, १४. प्राण, १५. रेतः, १६. सोम ओषधि, १७. सर्वदेवता।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इयं वा इदं न तृतीयमस्ति अग्निश्च सोमश्च....।

-विश्व में अग्नि एंव सोम दो ही तत्व अनुस्यूत हैं। १/६/३/२३

ब्राह्मणग्रन्थों के विविध अर्थ सोम की इस व्यापकता ही द्योतित करते हैं। वेदभाष्यकार सोम ओषधि चन्द्रमा राजा, सुसन्तान... शुक ऐश्वर्य आनन्द ईश्वर आदि विविध अर्थ करते हैं। सोम के विविध अर्थों में जो भी सारभूत जीवनीय तत्व युक्त पदार्थ, जिसमें सर्जन, उत्पादन, प्रेरकत्व शक्तियुक्त पदार्थ हैं, जो सुख ऐश्वर्य आनन्दकारक पदार्थ हैं उन्हें वेदों में सोम कहा गया है।

सोम के विविध रूपों में जो उसका आद्य स्वरूप है सामवेद के परिप्रेक्ष्य में उसकी संक्षेपतः विवेचन किया जा रहा है। सोम का पूर्व्य च अग्रिम रूप द्युलोक में अवस्थित है। इसे प्रत्न पुरातन कहा गया है। यह शुद्ध व दैदीप्यमान होकर देवों को पवित्र करने वाला, द्युलोक के नक्षत्रों को प्रकाशित करने वाला तथा लोक एवं प्रजाओं का हितसाधक है। यह प्रदीप्त अमृतमय पीयूष द्युलोक की स्थिति का कारण है। समस्त भुवन को सत्य नियम में चलाने के लिये बाजी रूप में प्रवाहित होता है, इस अमृतमय सोम से ब्रह्माण्ड की सभी प्राकृतिक शक्तियाँ ..... होती रहती हैं, यह निरन्तर सूर्य में आहुत रहता है जिससे सूर्य प्रकाशित होता है। यह सोम द्युलोक व द्युलोकस्थ नक्षत्रों का ज्योतिरूप है। द्युलोक के प्रकाश का कारण भी है।

पूर्व्य प्रत्न आदि शब्द सृष्टि में सर्वप्रथम उत्पन्न सोम के लिये प्रयुक्त हुआ है। यहाँ सायण वेंकट माधव ने इसका पुराना प्राचीन किया है सातवलेकर जी ने पूर्व्य का प्रथम आधार पूर्व्य से प्रसिद्ध आनन्द रस किया है।

द्युलोकस्थ इस सोम का रजक गन्धर्व हैं। भाष्यकारों ने गन्धर्व आदित्य, परमात्मा आचार्य आदि अर्थ किये हैं। सूर्य को स्पष्टतः गन्धर्व कहा गया है।

यह सोम द्युलोक का अवष्टम्भक है, तथा पृथिवी लोक का धारक है। यह सोम विश्वकम्पक एवं अन्तरिक्षस्थ जल को क्षरित करनेवाला है। इस सोम की प्रज्ञा से ही प्रज्ञावान् देव जगत् सृजन करते हैं। जगत् रक्षक रश्मियाँ वृष्ट्यर्थ गर्भधारण करती हैं। यहाँ सायण लिखते हैं -सोमस्य कैकांशपानेन जातबलाः अग्न्यादयः स्वस्व व्यापारेण जगत् सृजन्ति। पवित्र होता हुआ

यह सोम द्युलोक, पृथिवी, अग्नि, सूर्य, इन्द्र तथा विष्णु का जनक है। यह सोम द्युलोक में नक्षत्रमण्डल को, अन्तरिक्ष में सूर्य को उत्पन्न करता हुआ अधोगामी जल से भूमि को आच्छादित करता हुआ पवित्र होता है। यह सोम पुरातन रस को धारण किये हुए सृष्टि की दिव्यशक्तिओं को उत्पन्न करता है। इसी प्रसंग में ऋग्वेद में कहा है-सोम पृथिवी को सोमाहुति द्वारा अन्नवती कर देता है। यह सोम पूषा के सायुज्य से धन द्युलोक एवं पृथिवी को उत्पन्न करता है।

महर्षि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य में इन सन्दर्भों में सोम का अर्थ प्राण अपान चन्द्र, औषधिगण, विद्युत्, सूर्य अग्नि, वायु आदि अर्थ किये हैं।

यह सोम द्युलोक का शिरोवत् प्रधान है तथा अभीष्ट वस्तुओं का देनेवाला है। सहस्त्रधारायुक्त तृतीयलोक उदन्वती द्यौ में प्रजनन शक्तियुक्त परस्पर असंश्लिष्ट सोमधारामें वहां से नीचे पृथिवी की ओर प्रयाण करती है। द्युलोक में सोम का सर्वोत्कृष्ट रूप है। द्युलोकस्थ सोम सबसे मधुर है मधुमत्तम पीयूष है।

गुरुदत्त एवं सत्यव्रत लखनपाल ने सोम को अर्यमा आपः न्यूट्रॉन पार्टिकल्स माना है। आवेश रहित आप ही सोम है इस प्रकार अधिदैव में सोम को आवेश रहित न्यूट्रॉन पार्टिकल्स मानते हुए उन्होंने सृष्टि उत्पत्ति वृष्टि नियन्त्रण तथा सृष्टि विकास में सोम की विविध भूमिका वर्णित की है।

सोम के उपर्युक्त गुणों से स्पष्ट होता है कि सोम द्यौ तथा पृथिवी लोक का धारक है। द्युलोक में नक्षत्रमण्डल एवं सूर्य का जनयिता, वृष्टिप्रेरक, विश्वकम्पक, अन्न ओषधियों के उत्पादक से विश्व रचयिता एंव पोषक है। सृष्टि की अग्नि आदि दिव्य शक्तियाँ इसका पान करके सृष्टि कार्य करती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है। सोम एक सर्जन धारण तथा

पालन क्षमतायुक्त तत्व विशेष या ऊर्जा प्राणविशेष है। सोम के वेदवर्णित कार्यों के आधार पर उस मूल कारण का अनुमान लगाया जा सकता है कि अधिदैव में सोम एक विशिष्ट ऊर्जा द्युलोकस्थ सोम ही सोम ओषधि दूधशुक्र आदि का मूल कारण होने से सर्वोत्कृष्ट है।

अध्यात्म में यह सोम मनुष्यों को दिव्यजन्म प्रदाता है। इससे दिव्य ज्योति अमृतत्व तथा दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है। अपनी प्रकाशशीलता से अज्ञान अन्धकार को नष्ट करनेवाला है। योग साधना विधि से मस्तिष्करूपी द्युलोक में स्थित सोम का पानकर ही चक्षु आदि देवगण शक्तिशाली होते हैं तथा अपने अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। समाधि अवस्था में इन्द्ररूपी आत्मा ही ब्रह्मानन्द अमृतरस का पान करके अमृततत्व को प्राप्त होता है।

**सोम का द्युलोक से आहरण या अवतरण :-** ऋग्वेद, यजुर्वेद, शतपथ, ऐतरेय तथा गोपथ ब्राह्मण में सोम का द्युलोक से पृथिवी पर अवतरण या आहरण का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में अनेक रोचक आलंकारिक आख्यान भी प्राप्त होते हैं। इनको मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। १. श्येन द्वारा सोम का आहरण २. प्राकृतिक शक्तियों वृष्टि, सूर्य, चन्द्र रश्मि औषधि एवं वनस्पतियों के द्वारा सोमाहरण। ३. योगियों द्वारा यौगिक प्रक्रिया से अपने अन्दर अवतारित करना।

इन प्रसंगों का विवेचन एक स्वतन्त्र शोध प्रबन्ध की अपेक्षा रखता है। उक्त वर्णनों का भाव यह है कि सुपर्ण गायत्री छन्द का रूप धारण कर द्युलोक से सोमाहरण करने में समर्थ होता है। अध्यात्म में गायत्री की उत्पत्ति मुख से मानी गयी है-गायतेः स्तुतिकर्मणः गायतो मुखादुत्पतत्। यह गायत्री गाते हुए मुख से उत्पन्न होती है। तथा उत्पन्न होकर नाभि से लेकर जानु प्रदेश तक को घेर लेती है। जिस समय मनुष्य भक्ति विह्वल होकर स्तुतिगान करता है, उस समय उसकी समस्त वासनायें, कामनाएँ शान्त हो

जाती हैं। वासनाओं का सम्बन्ध नाभि केन्द्र तक होता है। गायत्री अग्निरूपा होती है। गायत्रं वाऽग्निः। अग्नि का धर्म ऊर्ध्वारोहण होता है। कपिष्ठल संहिता में कहा है -

सा गायत्र्युदपतत् चतुरक्षरासती। साजया कर्णगृह्यीदपतत् (३७/१) भाव यह है कि जिस समय साधक श्येन गति से ऊर्ध्वारोहण करता है उस समय वाणी से ध्वनि व नाद का होना ऊर्ध्वारोहण में अत्यन्त सहायक होता है। उस समय कान वाणी की ध्वनि को सुनते रहने चाहिए। यह अवस्था ध्यान की एकाग्रता में तथा ऊर्ध्वगति में अत्यन्त सहायक होती है।

अग्रलिखित मन्त्र में भी कुछ यही भाव दृष्टिगोचर होते हैं।

दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चक्रिषे हव्यवाहम्। ऋ. १०/८/६ अर्थात् हे अग्ने ! तू मस्तिष्क को द्युलोक में रख देता है, स्वर रूपी आनन्द से झंकृत जिह्वा को हव्य वाहन करनेवाली बना देता है। अथर्वमन्त्र भी यही कह रहा है-

**मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयञ्च तत्।**
**मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रेरयत् पवमानी अभिशीर्षतः।** १०/२/२६

अथर्वा व्यक्ति अपने हृदय एवं मस्तिष्क को एककर ओजरूपी पवमान सोम ऊर्ध्व द्यौ की ओर प्रेरित करता है। इसी को ऋग्वेद में 'दिवस्पृष्ठमधि-तिष्ठन्ति चेतसा' चित्त द्वारा द्युलोक के पृष्ठ पर अवस्थित होते है।

सामवेद के पवमान काण्ड के अधिकांश मन्त्रों का गायत्री छन्द में निबद्ध होने का भी यही रहस्य है। हम गायत्रीरूप श्येन द्वारा सामध्वनि से समाहित होकर उस दिव्य सोमरस का पान कर कह सके। इस साधना से ब्रह्मवेत्ता मस्तिष्कस्थित चार द्रवकूपों को सोम से भरा रखता है। सामान्यजन में यह रस रक्त आदि में जाता है। इन्द्रियाँ देव बनकर इन कूपों के किनारे बैठकर सोमपान करते हैं-

**तस्मिन् सुपर्णो मधुकृत् कलापी भवन्नास्ते मधुदेवताभ्यः।**
**तस्यासते हरयः सप्ततीरे स्वधां दुहाना अमृतस्य धाराम्॥**

तै.सं. ४/२/९/६

इसी तथ्य को बृहदारण्यकोपनिषद् में वाग् अष्टमी कहकर चित्रित किया है।

अर्वाग् विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तिस्मित यशोनिहितं विश्वरूपम्। तस्मासत् ऋषयः सप्त तीरे वागाष्टमी ब्रह्मणा संविदाना। २/२/३

यह ब्रह्मसंवलित वाक् वैखरी वाक् नहीं है। यह तो मस्तिष्क केन्द्र में विराजित आत्मा की वाक् है। यही विविध इन्द्रिय शक्तिरूप में विभाजित होती है।

यजुर्वेद में ब्राह्मणग्रन्थों में वीर्य, गायत्री वाक् आदि को श्येन बनाकर द्युलोक से सोमाहरण के विधान का यही रहस्य है। वस्तुतः ये सब अग्निरूप ही हैं। यजुर्वेद में इसी सुपर्ण अग्नि को तेजयुक्त कर उसकी व्याप्ति से उत्तम वाक् में आरोहण करते हुए स्वलोक पर आरुढ हों -

अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं तपसा बृहन्तम्।
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वोरुहाण अधिनाकमुत्तमम्।

यजु. १८/५१

शतपथ ब्राह्मण भी यही तथ्य प्रतिपादित करता है -

हम अग्निचपयन इसलिये करते हैं कि अग्नि सुपर्ण बनकर हमें द्युलोक ले जाये। कस्मै कामाय अग्निश्चीयते इति सुपर्णो मा भूत्वा दिवं वहादित्यहैक आहुः। ६/१/२/३६

इस प्रकार सामगान के साधना द्वारा अपनी अग्नि को ऊर्जा को जागृतकर उस दिव्य सोमरस का पानकर परमानन्द को प्राप्त कर सकें।

सम्पर्क : प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

# सोम तत्त्व से बृहस्पति तक

– प्रतापसिंह शास्त्री

**सोमं राजानं वरुणं अग्निम् अनुआरभामहे।**
**आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥**

इस वेद मन्त्र में परमात्मा के गुणों का वर्णन है इन्हें मनुष्य अपने जीवन में धारण करके वैयक्तिक जीवन को, सामाजिक जीवन को महान बनाकर ईश्वर उपासना तक पहुँच सकता है। इस मन्त्र का देवता विश्वेदेवाः है। सामवेद ज्ञान कर्म उपासना के समन्वय का आदर्श है।

**प्रथम कहा है – सोमं अनुआरभामहे :–** आओ हम सोम से अपने जीवन का आरम्भ करते हैं। सोम का अर्थ है–सौम्यता, नम्रता, सहन शीलता, सच्ची उपासना, संध्या, ध्यान, तन्मयता, ईश्वर के अस्तित्व का अपने शरीर (पिण्ड) में, ब्रह्माण्ड में, समाज में इस प्रकार अनुभव करना कि ईश्वर हमारे सब ओर है तथा हमारा रक्षक है। उदाहरण–(१) गुरुनानक देव जी भ्रमण करते हुए मुसलमानों के तीर्थ मक्का मदीना पहुँचे और वहां पश्चिम दिशा की तरफ पांव करके विश्राम करने के लिए लेट गए। तभी मक्का मदीना की मस्जिद का ईमाम चिल्लाया कि आपने कुफ्र कर दिया। आपने खुदा के घर की ओर पांव क्यों कर रखे हैं। गुरुनानक जी बड़ी सौम्यता से विनम्रता से, गम्भीरता से बोले–ईमाम जी, भूल सुधार कर दो। जिस ओर खुदा नहीं है, उधर हमारे पांव कर दो। यह है सोमम् अनुआरभामहे का सन्देश और सौम्यता का विनम्रता का प्रभाव।

उदाहरण –२. यह सोम शब्द ईश्वर का गुण वाचक भावात्मक उच्चता का भी सन्देश देता है। कर्म करने के तीन साधन है। मन–वाणी–शरीर। मनसा–वाचा–कर्मणा। यदि मानसिक चिन्तन उत्कृष्ट है तो वाचिक कर्म और शारीरिक कर्म भी उत्कृष्ट होंगे। मनसा परिक्रमा संध्या के तीसरे भाग के मन्त्रों में सोम शब्द आया है "ओं उदीची दिक् सोमोधिपति." इस मन्त्र में

सोम रूप परमात्मा को उत्तर दिशा का अधिपति कहा है जो शान्ति, आनन्द आदि गुणों से युक्त हमारा रक्षक है। उसकी सर्वत्र व्याप्त शक्तियाँ श्रेष्ठों को सुख आनन्द देकर रक्षा करती हैं और दुष्टों का विनाश करती हैं।

**'राजानम् अनुआरभामहे'** :- आओ हम राजा से अपने जीवन का आरम्भ करें 'राजा' नियमितता का प्रतीक है। अनुशासन का सुप्रबन्ध व्यवस्था का प्रतीक है। **'यथा राजा तथा प्रजाः'** के अनुसार राजा को आदर्श होना चाहिए। राजा वेद शास्त्रों का विद्वान् होना चाहिए। राजा लोकतान्त्रिक पद्धति से चुना जाना चाहिये उसे स्वेच्छाधारी अथवा तानाशाह नहीं होना चाहिये। राजा शब्द हमें जीवन में नियमितता का समय के सदुपयोग का, दैनिक व्यवहार में न्यायप्रियता, सत्यनिष्ठा का उपदेश देता है। जैसे-वेद मन्त्र में आया है कि 'स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्यचन्द्रमसाविव । पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि' अर्थात् हम अपने जीवन में सूर्य और चन्द्रमा की तरह नियमितता से चलें। सूर्य और चन्द्रमा के गुणों को भी जीवन में धारण करें।

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में राजधर्म विषय पर प्रकाश डाला है वहाँ राजा की दिनचर्या भी लिखी है। वहाँ लिखा है-

राजकार्य का संचालन करने के लिए तीन सभाएँ नियुक्त किये जाने का निर्देश किया है और लोकतान्त्रिक पद्धति का निर्देश वेद द्वारा किया है। ये तीन सभाएँ-विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका हैं। लोकतन्त्र में 'तन्त्र' का आधार लोक होता है। जब लोकवाणी की अवहेलना करके 'तन्त्र' प्रबल हो जाता है तो मूल्यों का संकट उत्पन्न हो जाता है। महर्षि दयानन्द ने 'त्रीणि संदासि' का अर्थ-विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा तथा राजार्य सभा भी किया है। अथर्ववेद मन्त्र १७/१३/३ में 'संसद' शब्द आया है जो लोकसभा राज्यसभा दोनों के लिए प्रयोग हुआ है। महर्षि दयानन्द ने लिखा है-एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिये किन्तु राजा जो सभापति, तदधीन सभा, सभाधीन राजा। राजा और राजसभा प्रजा के अधीन रहे। यदि ऐसा न करोगे तो-'राष्ट्रमेव विनश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं धातुकः। विशमेव

राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमति न पुष्टं पशुं मन्यतः इति । शत. १३/२/२१ अर्थात् जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन होकर राजवर्ग रहे तो वह राज्य की प्रजा का नाश करता है । अतः स्वेच्छाधारी एक तन्त्र राज्य को प्रजा के लिए सर्वथा घातक माना है । आर्य राजा प्रजा का प्रतिनिधि होता है ।

**वरुणम् अनुआरभामहे :-** आओं हम वरुण के अनुसार अपने जीवन का आरम्भ करते हैं अर्थात् श्रेष्ठ बनते हैं । परतन्त्रता के साथ अवगुणों का व स्वतन्त्रता के साथ सद्गुणों का वास है । मनुष्य के शरीर में इन्द्रियों की दासता हमारे सद्गुणों की दस्यु-Dedtroyer बनती है और जितेन्द्रियता सद्गुणों की जननी, अतः हम स्वतन्त्र बनकर श्रेष्ठ बनते हैं । वरुण शब्द के अर्थ हैं श्रेष्ठ, सूर्य, पानी, सृष्टि का शासक आदि भी है । ऋग्वेद में मंत्र आया है - **इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निमाह** (१-२६४-४६) अर्थात् इन्द्र मित्र वरुण अग्नि ये परमात्मा के नाम हैं । ब्राह्मण ग्रन्थों में वरुण को पापियों के बन्धन में डालने वाला सम्राट् कहा है । पाप से बचने के लिए इन्द्रिय निग्रह आवश्यक है । महाभारत में युधिष्ठिर ने तप का अर्थ किया है-**'तपः स्वकर्मवर्तित्वम् सारः'** पूरी तरह से पूरी निष्ठा से कर्त्तव्य पालन का नाम ही तप है । चाणक्य ने तप की परिभाषा की है-**'तपः सार इन्द्रिय निग्रहः'**-तप का सार जितेन्द्रियता है । विलासी व्यक्ति तपस्वी नहीं होता । जीवन में श्रेष्ठ बनने के लिए तपस्वी बनना आवश्यक है । मनुष्य को शारीरिक कष्ट और असुविधा को भी सहन करने का अभ्यास होना चाहिए ।

**अग्निम् अनुआरभामहे :-** आओ हम अग्नि के साथ अपने जीवन का आरम्भ करें । महर्षि दयानन्द ने 'अग्नि' शब्द से परमपिता परमेश्वर का तथा भौतिक अग्नि का ग्रहण किया है । आचार्य यास्क ने अग्नि शब्द की चार परिभाषाएं प्रस्तुत की है-(१) 'अग्नि' को अग्नि इसलिए कहा जाता है कि वह आगे बढ़ता है अथवा दूसरों को आगे बढ़ाता है । (२) सम्पूर्ण याज्ञिक कार्यों में सर्वप्रथम ले जाया जाता है । (३) संसार के समस्त पदार्थों को आश्रय देता हुआ अपना स्वरूप प्रदान करता है । (४) अथवा इसमें जलीय

अंश को सुखाने की क्षमता होती है। इस प्रकार अग्नि शब्द किसी पदार्थ को गति देकर (ज्ञान-गमन-प्राप्ति) उसको आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। अतः विद्वान् आचार्य, पुरोहित, सेनापति आदि भी अग्नि के प्रतीक हैं।

**अग्निम् अनु आरभामहे :-** इसका यह भी अभिप्राय है। कि अग्नि बैल के समान सब देश देशान्तरों में पहुँचाने वाला होने के कारण वृष और अश्व भी कहलाता है। क्योंकि वह कलाओं के द्वारा अश्व अर्थात् शीघ्र चलने वाला, होकर शिल्प विद्या के जानने वाले विद्वान् लोगों के विमान आदि यानों को वेग से वाहनों के समान दूर-दूर देशों में पहुँचाता है। इस प्रमाण से भी अग्नि शब्द का भौतिक अग्नि ग्रहण होता है।

सामवेद मन्त्र - 'यो जगार तमृचः' (मन्त्र १८-२६) में कहा है कि जागता कौन है ? अग्नि का उपासक जागता है। ऐसा उपासक ही अग्निर्मय जीवन बीताता हुआ विज्ञान प्राप्त करता है।

**आदित्यम् अनुआरभामहे :-** आओं हम आदित्य के साथ अपने जीवन का आरम्भ करें। आदान-प्रदान करने से आदित्य को सूर्य भी कहते हैं। 'अदितिरेव आदित्य' जिसका विनाश न हो वह परमात्मा अविनाशी आदित्य है। यज्ञ हवन में जल सिंचन क्रिया में -अदितेऽनु-मन्यस्व मन्त्रों में हम सर्वप्रथम अदिते कहकर परमात्मा से किसी भी शुभ कर्म के लिए आशीर्वाद मांगते हैं। आशीर्वाद लेकर कार्य आरम्भ करते हैं। ईश्वर कृपा से वह कार्य सफल होता है। यह अदितेरव आदित्य का ही अभिप्राय है। हमें आदित्य रूपी परमात्मा की उपासना करनी चाहिये। आदित्य का अर्थ प्राण व सूर्य की किरणें भी है। यह आदित्य अपनी तेजस्वी किरणों से कीचड़ व समुद्र में से भी खारेपन को छोड़कर शुद्ध जल का ही ग्रहण करता है। हम भी दोषों को छोड़कर गुणों को ही ग्रहण कर अपने जीवन को विभूषित कर सकते हैं। आदित्य उदय होता हुआ और अस्त होता हुआ पेड़ पौधों वनस्पतियों को प्राणशक्ति प्रदान करता है।

विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि आदित्य अपनी किरणों से भूमि के जल

को ऊपर अपनी ओर खींचता है। वृक्ष तथा गेहूं धान सरसों आलू गाजर मटर फल आदि के वृक्षों के लिए जो जल इन सभी में दिया जाता है। आदित्य उसे अपनी ओर खींचता है। हमारी भौतिक अग्नि भी उस जल के साथ ऊपर की ओर सरकती है। ज्यों-ज्यों अधिक रस खींचता जायेगा त्यों-त्यों पेड़ पौधों वनस्पतियाँ फसलें बढ़ते जाऐंगें। वेद में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। भूमि का रस जब आदित्य की किरणों के कारण ऊर्ध्व प्रसरण करता है तो वृक्ष, पौधे, वनस्पतियाँ बढ़ते हैं। जब तिर्यक् प्रसरण करता है तो पेड़ पौधे पुष्ट होते हैं। यह एक वनस्पति विज्ञान हैं जिसका प्रतिपादन वेद में है आदित्य (सूर्य) के प्रसंग में हमने यहाँ इसका संकेत कर दिया है।

आदित्य अनुआरभामहे के अनुसार आदित्य हमें प्रेरणा देता है कि स्वयं गुणी बनो और संसार में दुर्गुण दुर्व्यसनों का नाश करो जैसे आदित्य अपनी किरणों से गन्दे कीटाणुओं को नष्ट करता है। आदित्य का प्रकाश परोपकार के लिए है और आदित्य की किरणों से सब जगह फैल रहा है ऐसे ही धर्मात्मा परोपकारी लोगों का यशः भी सर्वत्र फैलता है।

**विष्णुम् अनुआरभामहे :-** आओ हम विष्णु के गुणों को धारण करते हुए व्यापक मनोवृत्ति से अपने जीवन का आरम्भ करते हैं। व्यापक व उदार मनोवृत्ति वाला ही सब स्थानों से गुणों को ग्रहण कर पाता है। आपने पौराणिक जगत् द्वारा प्रसारित प्रचारित विष्णु की तस्वीर देखी होगी, उसमें चार बातें प्रमुख हैं। (१) विष्णु के एक हाथ में शंख हैं (२) दूसरे हाथ में एक गदा है। (३) तीसरे हाथ में चक्र है। (४) और चौथे हाथ में कमल है। **शंख का अभिप्राय** है यदि हम संसार को आर्य बनाना चाहते हैं तो हमारा शंख ऊंची आवाज वाला हो। हम आधुनिक न्यूटैक्नालॉजी से वेद का प्रचार करने की योजना पर काम करें। विष्णु के दूसरे हाथ में गदा है। गदा से अभिप्राय शारीरिक शक्ति से है। शारीरिक शक्ति के लिये तीन बातें आवश्यक हैं। आहार-निद्रा-ब्रह्मचर्य। मनुष्य के कई शत्रु है जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, आदि उलूकयातुम्.... (वेद) उल्लू की चाल भेड़ियों की चाल,

कुत्ते की चाल, गरुड पक्षी की चाल, चिड़े की चाल गीद्ध की चाल आदि ये तेरे शत्रु हैं। इनसे बचने के लिए हे मनुष्य! तुझे तप त्याग का जीवन जीना होगा।

विष्णु के तीसरे हाथ में चक्र है। जिसका अभिप्रायः है चलते रहें, चलते रहें, दृढ-संकल्प के साथ उद्देश्य पूर्ति के लिए प्रयत्न परिश्रम करते रहें। आलस्य मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है उस आलस्य को छोड़ दें। पुरुषार्थ ही इस दुनिया में सब कामना पूरी करता है। विष्णु के चौथे हाथ में कमल है। हमें कमल की भाँति त्याग की शिक्षा को जीवन का आधार बनाना चाहिए। जैसे कमल पानी में डूबता नहीं ऊपर ही रहता है।

**सूर्यम् अनुआरभामहे :-** आओ हम सूर्य का अनुकरण करें। सामाजिक जीवन में हमारा यह सिद्धान्त होना चाहिए कि हम सूर्य की भांति अपना कार्य करते चलें। सूर्य कभी उस प्रतीक्षा में रुकता नहीं कि औरों ने अपना कार्य किया है या नहीं। सूर्य हमें कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा देता है।

सूर्य रूप परमात्मा हमें प्रेरणा देता है। उसकी प्रेरणाएं हमारे जीवन-निर्माण के लिए श्रेष्ठ गुण हैं।

१. सूर्य हमें प्राण देता है। सूर्य के कारण वनस्पति व अन्न पैदा होता है। और अन्न ही प्राण है।

२. सूर्य हमें प्रकाश देता है। प्राण देता है। उसी प्रकार हम भी दूसरों को ज्ञान की रोशनी देकर उनमें ज्ञान की शक्ति पैदा करें। यह ज्ञान शक्ति पैदा करें। यह ज्ञान शक्ति ही प्राण बन जाती है।

३. सूर्य संसार को गर्मी देता है। अग्नि देता है। हमें इससे प्रेरणा मिलती है कि हमारे शरीर में अग्नि (ज़ठराग्नि और वैश्वानराग्नि) जलती है। बाएं नाक से स्वांस चलता है। तो समझों चन्द्र स्वर चल रहा है। तब खाया हुआ भोजन पचेगा नहीं।

४. सूर्य हमें पवित्रता का उपदेश दे रहा है। सूर्य हमें परोपकार करने की प्रेरणा दे रहा है। सूर्य हमें समय का पालन करने की प्रेरणा दे रहा है। जहाँ

पानी की शीलन है। उसे सुखाता है। कीटाणुओं को समाप्त कर पवित्र बना देता है। हमें अपने आचरण को इतना अधिक पवित्र बनाना चाहिये कि कुसंगत भी कुछ न बिगाड़ सके सूर्य हमें मर्यादा में रहने की प्रेरणा देता है। लेकिन आज का मनुष्य मनुष्यता की मर्यादाओं को कदम-कदम पर तोड़ता है।

**ब्रह्माणम् अनुआरभामहे :-** आओं हम ब्रह्मा के साथ अपने जीवन का आरम्भ करते हैं। ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड का रचयिता है। ध्वंसक नहीं है। ब्रह्मा परमेश्वर का नाम है। परमेश्वर ने जब अमैथुनी सृष्टि की रचना की तब युवा रूप में की थी अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा इन चार ऋषियों को चारों वेदों का ज्ञान दिया, इनसे ब्रह्मा नामक ऋषि ने चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त किया और फिर ब्रह्मा से अन्य ऋषियों ने वेदों का ज्ञान प्राप्त किया। प्रस्तुत वेद मन्त्र में **ब्रह्माणम् अनुआरभामहे** से यह भी अभिप्राय है कि जैसे ब्रह्मा ने दूसरों को वेदज्ञान देकर वेद का प्रचार प्रसार किया वैसा ही आचरण हमारा होना चाहिए। हम ब्रह्म की उपासना करते हुए ब्रह्मा ऋषि की भाँति वेद के अनुसार श्रेष्ठ मानव समाज का निर्माण करें हमारा सामाजिक जीवन गुण ग्राही, क्रियाशील व निर्माण वाला हो। जब हम यह उद्देश्य बना लेंगे कि श्रेष्ठ समाज का निर्माण करना है। तो समाज में वेदानुकूल लोग संस्कारित होंगे तब असामाजिक तत्व श्रेष्ठ लोगों से भय खाएंगे भ्रष्टाचार, रिश्वत, अन्याय, अत्याचार, अज्ञान, अभाव नहीं रहेगा।

**ब्रह्माणम् के अनुसार चलने का एक अन्य उदाहरण देखिये:-** पशु-यज्ञ का विशाल आयोजन हो रहा था। चमचमाती तलवार थामे क्रूर बधिक आदेश की प्रतीक्षा में था कि तथागत गौतम बुद्ध ने प्रवेश किया। राजा अज्ञात शत्रु ने उन्हें नमन किया। तथागत ने एक तिनका देकर कहा राजन् इसे तोड़कर दिखाइए। राजा अज्ञात शत्रु ने उसके दो टुकड़े कर दिये। तथागत ने कहा राजन् अब इन टुकड़ों को जोड़ दीजिए। ऐसा कैसे सम्भव है। भगवान् तथागत ने कहा राजन् जिस प्रकार टूटे हुए तिनकों को जोड़ना

संभव नहीं वैसे ही अपने पाप को इन निरीह निर्दोष, मूक प्राणियों की बलि से नहीं मिटाया जा सकता। पशु हिंसा से तुम्हारे पाप में वृद्धि होगी, कमी नहीं, जो प्राण हम में है वही प्राण इनमें भी है। प्राणी-मात्र को अपने समान समझकर व्यवहार करना धर्म है। जब तुम किसी में प्राण फूंक नहीं सकते तो तुम्हें किसी के प्राण हरण का कभी अधिकार नहीं है। अज्ञात शत्रु ने पशुओं को मुक्त कर दिया इस प्रकार समाज का निर्माण किया जा सकता है।

**बृहस्पतिम् अनुआरभामहे :-** आओ हम इस सोमसत्व से परिपूर्ण मन्त्र में आये सभी गुणों को अपने व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन में धारण करते हुए बृहस्पति के अनुसार उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचें।

बृहस्पति शब्द संध्या के मन्त्रों में मनसा परिक्रमा में आया है। ये ऊर्ध्वा (ऊपर) की दिशा के अधिपति हैं। वेद शास्त्र और इस ब्रह्माण्ड का पालक परमेश्वर इसका स्वामी है। इन गुणों के कारण उसका नाम बृहस्पति है। जिसके बाण तुल्य वर्षाएँ हैं अर्थात् ज्ञान वर्षा, आनन्द वर्षा, ज्ञान व सुख का साधक और अज्ञान दुःख नाशक है। वहीं ज़्ञानमय परमात्मा हमारा रक्षक है। जो नीचे की दिशा है। उसमें विष्णु अर्थात् व्यापक नाम से परमात्मा का ध्यान करना बताया गया है। उदीची दिक् जो हमारे बाई ओर की दिशा है। उसमें सोम अधिपति है। जो शान्ति आनन्द आदि गुणों से युक्त है। उसका ध्यान करना बताया गया है। ताकि श्रेष्ठ समाज का निर्माण हो सके प्रतीची दिक-पश्चिम दिशा का अधिपति वरुण परमात्मा के गुणों को अन्तर्मुखी होकर ध्यान करते हुए ग्रहण करना है। इस प्रकार अग्नि, वरुण, आदित्य, विष्णु, बृहस्पति आदि शब्द मनसा परिक्रमा के मन्त्रों में परमात्मा के गौणिक नाम है। संध्या करने वाला व्यक्ति परमात्मा के अस्तित्व को अपने मानव समाज में अनुभव करता है। ईश्वर के गुण जिस मानव समाज में होंगे वह श्रेष्ठतम मानव समाज बन जाएगा। बृहस्पति बनने के लिए हमें वेद वाणी तथा वेद शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा लेनी चाहिए। यदि समाज के सभी मनुष्य इस प्रकार प्रेरणा लें तो अच्छे समाज का निर्माण करना आसान हो जाता है।

# गायत्र्योपनिषद में सवितृ-तत्त्व

## (तलवकारोपनिषद्ब्राह्मणे)

- डॉ. मोक्षराज

ऋग्वेद की २१, अथर्ववेद की ९, यजुर्वेद की १०१ तथा सामवेद की १००० शाखायें हैं। सभी मिलाकर ११२७ शाखायें एक स्वर में स्वीकृत हैं। यदि १००० शाखाओं को केवल गात्र प्रकार वैविध्य एवं अनेकता से सहस्त्ररूप में अलंकृत किया जाता है तो फिर वेद की शाखाएँ ११२७ ही हैं यह कहना मिथ्या हो जायेगा। अर्थात् सामवेद की शाखायें वास्तव में एक हजार ही रही हैं। सामगान की विविधता से इस पक्ष में कोई दोष नहीं आता बल्कि पुष्टि होती हैं कि किस प्रकार १००० रही होंगी।

सहस्त्र शाखाओं में सहस्त्रों गात्र का होना इसलिये आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि -

१) एक सामयोनि ऋक् पर अनेक गान सम्भव होते हैं।

२) अनेक ऋचाओं पर एक ही गान पृथक् पृथक् होते हैं।

३) त्रिवृत्, पञ्चदश स्तोम आदि में संख्यायें बढ़ती ही हैं।

४) अनेक गान सामयोनि ऋक् पर आधारित न होकर केवल स्तोमों पर ही आधारित होती है। जिन्हें ''छन्द साम'' कहा जाता है।

५) एक उदाहरण जैसे कि गायत्र पर्व में गायत्री ऋक् पर केवल एक गायत्र साम मिलता है। जबकि आग्नेय पर्व में ११४ सामयोनि ऋचाओं पर १८० साम हैं,ऐन्द्र पर्व में ३५२ ऋचाओं पर=६३३ साम है, पवमान पर्व की ११९ सामयोनि ऋचाओं पर ३८५ साम हैं। अतः ५८५ सामयोनि ऋचाओं पर ११९८ साम हैं। यही कारण है कि दशराज पर्व, सम्वत्सर, एकाह, अहीन, सम, प्रायश्चित्त एवं क्षुद्र पर्व के रूप में विभाजित अहगानों

तथा अह्यगानों की संख्या भी सहस्त्रों हैं। यह तो सहस्त्रवर्त्मा सामवेद के विषय में मेरा स्पष्ट मत प्रकट हुआ। यद्यपि वैदिक उपनिषद् प्रमुखतया-११ हैं तथापि मद्रास, पुस्तकालय में २३० से अधिक हैं। तो क्या यह नया उपनिषद् गायत्र नाम से हैं ?

**जैमिनीय (सामवेदीय) ब्राह्मण संज्ञा सन्दर्भ :-** सामवेद की तलवकार ऋषि के नाम से तलवकार शाखा प्रसिद्ध थी। उसी का नाम जैमिनीय शाखा हो गया, इसका कारण क्या रहा होगा, ज्ञात नहीं। कालान्तर में तलवकार ब्राह्मण का नाम जैमिनीय ब्राह्मण हो गया[१]।

**गायत्र उपनिषद् –** जैमिनीय ब्राह्मण (तलवकार ब्राह्मण) क अन्तिम भाग में जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (तलवकारोपनिषद् ब्राह्मण) है। यह ४ अध्याय का एक भाग है। इसी का नाम गायत्र-उपनिषद् भी है[२]। इस उपनिषद् में गायत्र, गायत्री, सविता-सावित्री का विशेष उल्लेख है।

**केनोपनिषद् का मूल भी यही ब्राह्मण-उपनिषद है-**

गायत्र उपनिषद् के अन्तर्गत चतुर्थ अध्याय में दशवें अनुवाक के चारों खण्ड की विषयसामग्री केनोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। अध्याय-४ की कण्डिका संख्या १८ से २१ केनोपनिषद् है। मुद्रण दोष है या ऋषियों द्वारा किया गया पाठभेद किन्तु कुछ अन्तर दिखाई दे रहे हैं। १) इह चेदवेदी... विविच्य (गायत्र उपनिषद् में)/विचित्य (सम्प्रति प्राप्त केनोपनिषद् में)[३]। २) न तत्र चक्षुर्गच्छति... न विद्म (मूल गा.उप. में)/न विदु (सम्प्रति केनोपनिषद् में)[४]।

## गायत्रोपनिषद् में सविता-सावित्री सम्बंध

| क्र.सं. सविता | सावित्री | परस्पर सम्बंध |
|---|---|---|
| १. अग्निः | पृथिवी | स यत्राऽग्निस्तत्पृथिवी यत्र वा पृथिवी तदग्निः। ते द्वे योनी। तदेकम्मिथुनम्। |

| | | |
|---|---|---|
| २. वरुणः | आपः | स यत्र वरुणस्तदापो यत्र वाऽऽपस्तद्वरुणः । ते द्वे योनी । तदेकम्मिथुनम् । |
| ३. वायुः | आकाशः | स यत्र वायुस्तदाकाशो यत्र वाऽऽकाशस्तद्वायुः । ते द्वे योनी । तदेकम्मिथुनम् । |
| ४. यज्ञः | छन्दांसि | य यत्र यज्ञस्तच्छन्दांसि यत्र वा छन्दांसि तद्यज्ञः । ते द्वे योनी । तदेकम्मिथुनम् । |
| ५. स्तनयित्नुः | विद्युत् | स यत्र स्तनयित्नुस्तद्विद्युद्यत्र वा विद्युत् तत्स्तनयित्नुः । ते द्वे योनी । तदेकम्मिथुनम् । |
| ६. आदित्यः | द्यौ | स यत्राऽऽदिव्यस्तद्यौर्यत्र वा द्यौस्तदादित्यः । ते द्वे योनी । तदेकम्मिथुनम् । |
| ७. चन्द्रः | नद्वत्राणि | स यत्र चन्द्रस्तन्नक्षत्राणि यत्र वा नक्षत्राणि तच्चन्द्रः । ते द्वे योनी । तदेकम्मिथुनम् । |
| ८. मनः | वाक् | स यत्र मतस्तद्वाग्यत्र वा वाक् तन्मनः । ते द्वे योनी । तदेकम्मिथुनम् । |
| ९. पुरुषः | स्त्री | स यत्र पुरुषस्तत् स्त्री यत्र वा स्त्री तत्पुरुषः । ते द्वे योनी । तदेकम्मिथुनम्[1] । |

उक्त तालिका में स्पष्ट है समस्त पृथिवीवासी अग्नि के उपासक हैं अग्नि के उपयोग के बिना उनका अस्तित्व सम्भव नहीं है । यही कारण है आचार्य यास्क ने पृथिवी स्थानीय देवता-अग्नि को ही माना है[2] । इसमें ०८ वसु (अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यु, चन्द्रमा, नक्षत्राणि) वरुण, यज्ञः, मन, वाक्, पुरुष, स्त्री, स्तनयित्नु, विद्युत्, आपः, छन्दांसि ये सभी भौतिकाभौतिक तत्व इस सावित्री-सविता योनी में सम्मिलित हैं । जो कि एक दूसरे के पूरक तत्व हैं । उपास्य-उपासक, आधार-आधेय, जो-जिसका पदार्थ है वह सब सविता-सावित्री मिथुन की भाँति संयुक्त हैं ।

आपः तत्त्व में व्याप्त जलीय, द्रवीय गुणों में जो वरणीय श्रेष्ठ तत्व

वरुण है उसकी उपासना की जा रही है। अर्थात् साधक प्रत्येक स्यन्दनीय पदार्थों में श्रेष्ठ वरुण को साथ ही देखे पृथक् न समझे एक पल भी उसके मिथुनसम्बंध से विरुद्ध न होवे।

जहाँ-जहाँ आकाश है, अवकाश है, उसमें रहनेवाले समस्त प्राणी वायु से प्राणवान् हैं वे जीव उसी प्राणाधार से जीवित हैं उस सर्वत्र गतिमान-अगतिमान (एजति न एजति) तत्व को जानें जो आकाश जैसे सूक्ष्मतम, व्याप्त तत्व में उस वायुरूप परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करते हैं। उस आकाश-वायुर्ि षमिथुन को पृथक् नहीं देखते उसमें अपनी प्रज्ञा स्थापित करते हैं।

''तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः .... छन्दांसि जज्ञिरे.... ।[३]''

अथर्ववेदादि मंत्रसंहिताओं का प्रकाश उस यज्ञस्वरूप प्रजापति से ही हुआ है तथा बिना मन्त्र के यज्ञ तामसिक कोटि का अर्थात् यज्ञीय उद्देश्य के विरुद्ध माना जाता है[४]। अर्थात् उस स्त्रष्टाब्रह्म तत्व में वेद नित्य ही मिथुनवत् स्थिर रहते हैं। इस रहस्य को जाननेवाला ही सविता-सावित्री को समझता है। व्याप्त विद्युत् तत्व स्तनयित्नु से प्रकाशित होता है। कण-कण में समाये हुए आवेश वर्षा में चमकती बिजली के रूप में अपनी शक्ति का दर्शन कराती है। यह प्रकट व अप्रकट स्तनयित्नु व विद्युत् एक मिथुन हैं।

द्यु-आदित्य से प्रकाशित है उसके प्रकाशक होने की उपासना उसकी सर्वतोदृष्ट ऊर्जा-प्रकाशकिरणें व दीप्तमान् तत्व निरन्तर करते हैं। ये परस्पर एक मिथुनवत् संयुक्त हैं। यही सविता-सावित्री सम्बंध है।

रात्रि का देवता अग्नि है किन्तु वह चन्द्रमा न होने पर दीप्ति का आधार है। चन्द्रमा समस्त नक्षत्रों में अपनी शीतल द्युति से शोभामान होता है। नक्षत्रों की ज्योत्स्ना के साथ उसका गहरा मिथुन सम्बंध है यह नाक्षत्रिक चन्द्र का सावित्री-सविता तत्व प्रकृति की गहराई में, स्त्रजक साध्य (ईश्वर) की सामर्थ्य का प्रकाश करते हैं।

मन के अन्दर संकल्प-विकल्प की भी एक भाषा होती है। मन में वाणी समायी हुई है। वाक् बिना मन के अकल्पनीय है ऐसा अन्तःकरण के सूक्ष्म तत्वों का एकीभाव साधक को अन्तर्मुखी करता हुआ सविता-सावित्री का वरणकर्त्ता बना देता है।

प्र(चोदयात्) स्त्री व पुरुष के साथ परम्परा से जुड़ा स्वाभाविक धर्म है। स्त्री के आधार को प्रेरित करना प्रजनन का कारण है यह मिथुन व योनी एक दूसरे के समान या पूरक हो जाते हैं। इन सविता व सावित्री के आधार आधेय सम्बन्ध से सुप्रसिद्ध महाव्याहृति वाला गायत्री मन्त्र परिभाषित होता है। सविता-सावित्री का यह सम्बंध और अधिक विस्तार से गोपथ ब्राह्मण[५] में भी उल्लिखित है।

सविता शब्द की व्युत्पत्ति व स्वरूप महर्षि दयानन्दकृत भाष्य में स्पष्ट ही है। सवित्री देवता का स्वरूप सविता की उपासिका के सम्बंध में है। सवितृ+अण्। सवितुः प्रेरकस्योपासिका।

अतः जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में भूः, भुवः स्वः तथा वरेण्यं, भर्गः, प्रचोदयात् के साथ सावित्री एवं सवितापदेन व्यवह्रित तत्वों की सङ्गति निम्न प्रकार है।

भूः अग्निः (सविता) वरेण्यम्।

भूः आपः (सावित्री) वरेण्यम्।

भूः चन्द्रमा (सविता) वरेण्यम्।

अर्थात्-भूः तत् सवितुः (अग्नेः, आपः, चन्द्रस्य) वरेण्यम्[६]।

भुवः भर्गः (अग्निः (सविता) आदित्यः (सविता) चन्द्रमा (सविता), देवस्य धीमहि[७]।

धियो यो नः (प्रचोदयात्)

यज्ञो वै प्रचोदयति। यज्ञः (सविता) प्र.चोद् (छन्दांसि (सावित्री) प्रज्ञां यज्ञः प्रचोदयति। प्रज्ञां यज्ञः वेदानुसा...

अर्थात् -स्वः यज्ञः धियो यो नः प्रचोदयति।

स्वः यज्ञबुद्धिः स्त्री पुरुषश्च प्रजनयतः, प्रचोदयातः वा[८]।

**गायत्रं ॥ (परमेष्ठी प्रजापतिः, गायत्री, सविता।)**

ओ३म् तत्सवितुर्वरेणियोम्। भर्गो देवस्य धीमाहीऽ२

धियो यो नः प्रचो १२ १२ । हुम् आ २ । दायो आ २३४५[९]।

(स्वराः ६ । पर्वणि ६ । पर्वाणि ६ । विकाराः ३ ।)

तत्वसितुर्वरेणियोम्। भर्गोदेवस्य धीमही २। धियोयोनः प्रचो १२१३ हुम्.स्थिआ २। दायो। आ ३४५[१०]।

(स्व.६/प.६/वि.२) ६ (का १६)

जो गायत्री मन्त्रोक्त सावित्री को इस प्रकार जानता है, वह लोक पर विजय प्राप्त करता है तथा मृत्यु से पार तर जाता है[११]। अर्थात् सविता-सावित्री के स्वरूप का साक्षात्कार करने वाला इहलोक व परलोक का विजय मोक्ष आ आनन्द प्राप्त करता है।

**सन्दर्भ :**


**१. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (गायत्रोपनिषद्)-अ.४, अनु.१२, ख.१, मं.१-१८**

**२. निरुक्त-७.१-२**

**३. ऋग्वेद - १०-९०-९, यजुर्वे -३१.७**

**४. मंत्रहीनं विधिहीनं ..... ओमद्भगवद्गीता**

**५. गोपथ ब्राह्मण-मौद्गन्य आस्थान पूर्वभाग-त्रपाठक-१, कण्डिका-३३**

**६. जैमिनीयोपनिषद (४-२८-१), अनु.१२, खं.२, मं.१**

**७. वही. १२.२.२**

**८. वही. १२-२-२**

**९. वही. १२-२-३ एवं ५**

**१०. प्रकृतिसप्तगानान्तर्भूतं गायत्राख्यं प्रथमं गानम्।**

**११. आरण्यगानम् परिशिष्टं-६**

**१२. "…. एतां सावित्रीमेवं वेदाऽप पुनर्मृत्युं तरति सावित्र्य एव सलोकतां जयति।" - जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण ४-१२-२-९**

# सामवेद की तीन प्रमुख शिक्षाएं

**- डॉ. महावीर सिंह आर्य**

**सामन् (साम) का अर्थ :-** सामन् या साम का अर्थ गीति युक्त मंत्र है। साम के लिए गीतियुक्त होना अनिवार्य है। ऋग्वेद के मन्त्र (ऋक् या ऋचा) जब विशिष्ट गान पद्धति से गाये जाते हैं, तब उनको सामन् (साम) कहते हैं। .... पूर्वमीमांसा में गीति या गान को साम कहा गया है[1]। ऋग्वेद में स्त्रोत्ररूप या गीतिरूप मंत्र को 'सागूण्य साम' कहा गया है[2]। आगूष्य का तात्पर्य है=स्तोत्र या गीतिरूप इससे ज्ञात होता है कि जब मंत्र या ऋचा गीति के रूप में प्रस्तुत की जाती है तो उसे साम कहते हैं। मीमांसा सूत्रों की व्याख्या में शबर स्वामी ने भी यही भाव प्रकट किया है कि कुछ विशेष प्रकार की ऋचाओं के गान को साम कहते हैं[3]। इस प्रकार ऋग्वेद और सामवेद का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। ऋचा+गान=सामन् है। गीतियुक्त ऋचा साम हो जाती है।

**सामवेद तीन प्रमुख शिक्षाएं देता हैं -**

१. समत्व की भावना जागृत करना, समत्व बुद्धि, समत्व का प्रकाशन और समत्त्व की प्रतिष्ठा साम की प्रतिष्ठा है। अर्थात् जहाँ समत्व है वहाँ साम या सामवेद है इसी भाव को अथर्ववेद, ऐतरेय ब्राह्मण, छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में अनेक रूप से प्रकट किया गया है। कहीं पर सामान्यरूप से और कहीं पर आलंकारिक रूप में। सा+अम=साम।

स या सा (ऋचा)+अम (मीति)=सामन्।

इसका अभिप्राय यह है कि स या सा ऋग्वेद है और अम संगीत है दोनों के मिश्रण से साम (सामवेद) बनता है।

(क) या ऋक् तत् साम। छान्दोग्य उप. १/३/४

(ख) ऋचि अध्ययढं साम। छा.उप. १/६/१

(ग) अमोऽहमस्मि सा त्वम्, सामाहमस्मि ऋक् त्वम्; द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह स भवाव प्रजामा जनयावहै।

(अथर्व. १४/२/७१) ऐ.ब्रा. ८-२७) बृहदा.उप. ६/४/२०)

(घ) सा च अमश्चेति तत् साम्नः सामत्वम्। बृंहदा.उप. १/३/२२। बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि गान ही सामवेद का स्वत्व है। गान ही सामवेद का स्वरूप और अस्तित्व है। यथा-तस्य है तस्य सामनो यः स्वं वेद... तस्य स्वर एव स्वम्। बृहदा.उप. १/३/२२

बृहदारण्यक उपनिषद में स्पष्ट लिखा है कि गान ही सामवेद का स्वत्व है। गान ही सामवेद का स्वरूप और अस्तित्व है।

यथा-तस्य हैतस्य सामनो यः स्वं वेद.... तस्य स्वर वाव स्वम्। बृहदा. उप. १-३-२५

**समन्वय की भावना :-** सामवेद में सौर ऊर्जा है। शतपथ का कथन है कि सूर्य से सामवेद की उत्पत्ति हुई है। अतः यह सूर्यपुत्र है। इसमें सूर्य की शक्ति है[४]। सूर्य सर्वत्र समभाव से विद्यमान है सम का भाव ही भावार्थक रूप साम है[५]। अतः यह स्पष्ट है कि सामवेद सूर्य है व मंत्र सूर्य की किरणें है। अर्थात् सामवेद से सौर ऊर्जा मनुष्यों को प्राप्त होती है[६]। सामवेद में साम (गीति) द्युलोक है और ऋण् (ऋचा या मंत्र) पृथिवी है। अतः सामवेद द्यु और भू का समन्वय है। उक्त कथन ताड्य ब्रा. में प्राप्त होता है[७]। अर्थात् साम का समन्वय द्युलोक और पृथिवी का समन्वय है। सा (अर्थात् ऋचा पत्नी है) श्रम (गान पुरुष) है। =सामन्। (पति-पत्नी के तुल्य ऋग्वेद और सामवेद का समन्वय ज्ञात होता है[८]।

सम्पर्क : के २/२२९३, शास्त्रीनगर

मेरठ, शहर (उ.प्र.)

मो. ९७१९९४५३७७

# साम शब्द का अर्थ व महत्त्व

– प्रेमचन्द अग्रवाल

सामवेद के परिप्रेक्ष्य में साम को अथर्ववेद में 'सा' और 'अम' के योग से निष्पन्न किया गया है-अथर्ववेद के चतुर्दश काण्ड के विवाह सूक्त-अथर्व. १४/२/७१ 'अमोऽहमस्मि सा त्वम्' में वर वधु से कहता हूँ कि तू-'सा' मैं 'अम' हूँ इस प्रकार हमारा युगज 'साम' है। आगे जै.उ.ब्रा. ४/११८ २/३ में 'प्राणो वाव अमो वाक् सा तत् साम' यहां तो सा से वाणी और अम से प्राण बल अभिप्रेत है।

शतपथ ब्राह्मण (श. १४/४/१/२४) 'सा च अमश्चेति तत् साम्न सामत्वम्' काठसंहिता ३५/१८ 'सा त्वमसि अमोऽहम् अमोऽहस्मि सा त्वम्' जै.उ.बा.१/१/५ 'समा ३ ह वा अस्मिश्छन्दांसि साम्यमिति तत् साम्न सामत्वम्'.

ऊपर लिखित तीनों ग्रन्थों में सा और अम के योग से साम की निष्पत्ति मानी गयी है। कहा गया है कि ऋग्वेद के छन्द और सामवेद के छन्द समान हैं। सम छन्दवाला होने के कारण ही सामवेद का नाम साम पड़ा है।

यास्कीय निरुक्त में 'साम' शब्द को तीन प्रकार से निष्पत्ति दर्शायी गयी है। प्रथम 'सम्' उपसर्ग पूर्वक मानार्थक माङ् धातु से। ऋचा के समान परिमाण वाला होने से साम कहलाता है। अर्थात् ऋचाएं जैसे छन्दो बद्ध होती है वैसे ही 'साम' भी होता है। (साम्या=साम)

द्वितीय प्रकार में 'साम' को 'षो' अन्तकर्माणि धातु से व्युत्पन्न किया गया है। साम गान को 'साम' इस कारण कहते हैं क्योंकि यह मानसिक अशान्ति, दुःख आदि का अन्त कर देता है।

तृतीय पक्ष नैदानों में नाम से दिया गया है जिसके अनुसार 'सम्' पूर्वक

मन् ज्ञाने (दिवादि) या मनु अबोधने (स्वादि) धातु से 'साम' शब्द बनता है।

ऋचा के समान माना जाने के कारण 'सामयो निमन्त्र सामं कहलाता है। निरुक्त ७-१२ साम सम्मितम् ऋचा, स्मतेर्वा ऋचा, समं मेने इति नैदाना:'

उणादि कोष में साम की सिद्धि में निरुक्त वर्णित द्वितीय प्रकार को ही ग्रहण किया है।

उणादि कोष ४/१५४ 'सामिभ्यां मनिन् मुनिणो' वहां 'षो अन्तकर्मणि' धातु के मनिन् प्रत्यय करके 'सामन्' शब्द निष्पन्न किया गया है। उसी के नपुंसक लिंग प्रथम विभक्ति के एक वचन में 'साम' रूप बनता है। पाप-ताप का अर्थज्ञान पूर्वक पाठ या 'गान' से होता हैं अत: उसे 'साम' कहते हैं।

एक अन्य धातु 'साम सान्त्व प्रयोगे (चुरादि) है इस धातु से अन् प्रत्यय करने पर भी 'सामन् की सिद्धि हो सकती है। तदनुसार इसे 'सामन्' इस कारण कहते हैं। यत: इनसे शान्ति प्राप्त होती है। उणादि सूत्रों ३५/१५४ के अनुसार-षो अन्तकर्माणि अनेकार्थत्वात् गाने वर्तते सीयते इति सामवेद: । अर्थात् एक वृत्तिकार 'साम' का यह अर्थ करते हैं कि जो गाया जाय वह साम है। गीता में १०/२२ में लिखा है कि 'चारों वेदों में साम वेद का विशिष्ट स्थान है-'वेदानां सामवेदोऽस्मि' अर्थात् वेदों मे सामवेद है। सामवेद उपासना का वेद है। उपनिषद् में लिखा है 'सा च अमश्चेति तत् साम्न: सामत्वम् अर्थात् सा शब्द से ऋग्वेद का ज्ञान होता है और 'अम' शब्द से गान्धारादि स्वरों का ग्रहण होता है। व्याकरण महाभाष्य में सामवेद की सहस्त्र शाखाएं लिखी है 'सहस्त्रवर्त्मा सामवेद:'

चारों वेदों में ऋग्-यजु-साम प्रत्येक का अपना महत्त्व है परन्तु साम का महत्व सर्वोपरि है। यजुर्वेद ३६/१ मन्त्र के आधार पर-

'ऋचं वाचं प्रपद्ये, मनो यजुः प्रपद्ये, साम प्राण प्रपद्ये चक्षु श्रोत्रं प्रपद्ये'

'ऋग्वेद वाणी के तुल्य है, यजुर्वेद मन के तुल्य है और सामवेद प्राण के तुल्य है। ऋग्वेद से शून्य व्यक्ति गूंगा यजुर्वेद से शून्य व्यक्ति ठूंठ और अथर्ववेद से शून्य व्यक्ति अन्धा, सामवेद से शून्य व्यक्ति तो प्राणरहित देह सदृश्य है 'शव मात्र' है।

सामवेद के महत्त्व के प्रसंग में सामवेद में उपासना पर बल दिया है। माध्यम् सामवेद ऋचा १/२०-परमेश्वर की अलौकिक ज्योति का दर्शन)

'आदित् प्रत्नस्यरतसो ज्योति पश्यन्ति वासरम्।

परोयदिध्यते दिवि। साम १/२०

जैसे सूर्य जब मध्याह्न के अवकाश में पहुंच जाता है जो अन्धकार का निवारक दैदीप्यमान सम्पूर्ण प्रभात मंडल को देख पाते हैं वैसे परमात्मा में राग द्वेष के विना एक जीवन मुक्ति रूप दिन के जनक दिव्य प्रकाश का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं।

परमात्मा की उपासना से उपासकों में सद्गुणों की वृद्धि होगी और सद्गुण उपासकों की सन्तानें भी पतित न होनेवाली सद्गुणों से युक्त होंगी।

इससे पाठक वृन्द सामवेद का महत्त्व समझ सकते हैं।

सम्पर्क : बी-८, पेपर मिल कालोनी,
यमुना नगर (हरि.)

# सामवेद-दर्पण

- भीमाशंकर साखरे

ईश्वर की स्तुति और आत्मसाक्षात्पूर्वक ईश्वरप्राणिधान करना उपासना कहाती है। सामवेद उपासना काण्ड है। भक्तिरस के पिपासु जन उपासना से भक्तिरस का पान करते हैं। सामवेद का उपवेद गांधर्ववेद है। सामवेद संगीतमय और गानात्मक है। यज्ञों में विविध देवताओं की प्रार्थना करते हुए मंत्रों को विविध गानपद्धति से कहने की परिपाटी थी। वेदों की ऋचाओं में जो अक्षर ग्रथित किए गए हैं, उनके नाद का विशेष परिणाम है। मानवी शरीर निरोगी रहे अतः वेदों के मंत्र गद्यात्मक और गानात्मक हैं।

भारतवर्ष में सामवेद की तीन शाखाआं का अधिक प्रचार है। १) कौथुम शाखा गुजरात में २) जैमिनीय शाखा कर्नाटक में और ३) राणीयनीय शाखा महाराष्ट्र में प्रचारित है। चतुर्वेदभाष्यकार सायण के भाष्यसहित सामवेद संहिता में, आरण्य काण्ड और महानाम्नी आर्चिक के भाग उपलब्ध हैं। पं. जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने अपने प्रकाशित सामवेद में इनकों स्थान दिया है। सोमवेद के भाष्य अभी तक जितने उपलब्ध हैं, वे सामवेद संहिता पर संस्कृत भाष्य ही हैं। जिनमें बहुत से लुप्त हो गए हैं। पं. तुलसीराम जी ने हिंदी में भाष्य किया है।

**शाखाएँ :-** अथर्ववेद परिशिष्ट के चरणव्यूह प्रकरण में इस प्रकार लिखा है कि सामवेद की हजार शाखाएँ थी। पातंजल मुनि का ऐसा ही अभिप्राय उनके महाभाष्य में है। लोग इनको भी पढ़ते थे, अंतः इन्द्र ने उन सब का विनाश कर दिया। कुछ शाखाएँ बची। 'चरणव्यूह' के लेख से अन्य व्यूहों में कुछ भेद भी है। इसके अतिरिक्त सामवेद का और शाखाभेद कैसे हुआ इस विषय में विष्णुपुराण में शाखाओं के नामों से भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं। व्यासदेव के शिष्य जैमिनि ने शाखाओं का भेद किया है। जैमिनि

के शिष्य-प्रशिष्यों ने भी सामवेद की बहुत सी शाखाएँ कर दी। शाखाएँ के यद्यपि नाम भी लुप्त से हो गए तो भी उनका कुछ आभास उपलब्ध नामों के साहचर्य से पा सकते हैं।

**सामसंहिता :-** सामवेद के शाखा भेद से सामसंहिता में भेद नहीं हुआ। क्योंकि परंपरा से मूलसंहिता एक ही थी और जैमिनी, कौथुम और राणायनादि का ब्राह्मण भी छान्दोग्य एक ही है। बहुत-से विद्वानों का मन्तव्य है कि सामवेद मूल केवल ७५ मंत्रों का ही है। और शेष समस्त मंत्र ऋग्वेद से ही संग्रहीत हैं, अतः उनका ग्रहण ऋग्वेद से ही होता है। यह उनका कथन तभी ठीक हो सकता है जबकि ऋग्वेद और सामवेद दोनों संहिताओं का प्रयोजन एक ही हो। परंतु यदि प्रयोजन भिन्न भिन्न है तो संहिता में समानता होने पर भी उनका पृथक् पृथक् होना आवश्यक है। इस पुनरुक्ति को दूर करने के लिए कटिबद्ध स्वामी हरिप्रसाद जी जैसे वैदिक मुनि ने तो केवल ७८ मंत्रों का शुद्ध सामवेद पृथक् पुस्तकरूप में छपवा भी दिया है। ऋचाओं में आश्रय पाते हुए साम का गान किया जाता है। फलतः अब यह स्पष्ट अर्थ निकल जाता है कि गानविद्या के मर्मों के आश्रयभूत मंत्रों की संहिता सामसंहिता है।

**सामवेद के देवता :-** सामवेद का मुख्य विषय उपासनाकाण्ड है। वेदों में सिवाय ईश्वर के और किसी देवता की उपासना प्रतिपादित नहीं की गई है। समस्त वेद जिस पद का पुनः पुनः प्रतिपादन करते हैं वह 'ओम्' है। वेदों की सब से उच्च कोटि की व्याख्या ब्राह्मणग्रंथों में की गई है। उनमें जहाँ साथ-साथ यज्ञ की शैली और लोकव्यवहार को दर्शाया है वहाँ यज्ञ की क्रिया का आध्यात्मिक अर्थ भी किया है। अर्थात् ऋचासमूह महान् आत्मा का ही वर्णन करता है। क्योंकि ब्राह्मणग्रंथ ही सबसे प्राचीन ग्रंथ है।

**अग्नि :-** प्रथम आग्नेय काण्ड है। इस काण्ड भर में अग्निदेवता को

लक्ष्य करके ही सब मंत्र है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में अग्नि के संबंध मं लिखा है कि अपनी देह को अधर अरणी और प्रणव को उत्तर अरणी बनाकर ध्यानरूप निर्मंथन को पुनः रगड़ रगड़कर ज्योतिस्वरूप देव, प्रकाशस्वरूप आत्मा का दर्शन करे।

**इन्द्रदेव :-** वैदिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ आत्मा है। आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों का ग्रहण है। जैसे देह में आत्मा है उसी प्रकार विश्वमय ब्रह्मांड में परमात्मा है। यह अंतरात्मा इंद्र है। इसके लिए सर्वप्रसिद्ध प्रमाण देह की इन्द्रियाँ हैं जिनका नाम ही इन्द्र के आधार पर है। इन्द्र के संबंध में जितनी ऋचाएँ वेदों में समाविष्ट की गई हैं उतनी किसी देवता की नहीं हैं।

**सामवेद के प्रतीक संकेत :-** सामवेद के तीन भाग हैं - एक पूर्वार्चिक और दूसरा उत्तरार्चिक तथा तीसरा मध्यभाग महानाम्नी आर्चिक है। पूर्वार्चिक के ४ भाग हैं - १) आग्नेय काण्ड २) ऐन्द्र काण्ड ३) पवमान काण्ड और ४) आरण्यक काण्ड। ये चारों काण्ड ६ अध्याय व ६ प्रपाठक में बँटे हुए हैं। सायण के अनुसार इनको पाँच अध्यायों में बाँटा गया है। प्रपाठकों में अर्धपाठक और दशतियों का विभाग है। अध्यायों में खंडों का विभाग है। उत्तरार्चिक में २१ अध्याय और ९ प्रपाठक हैं। आग्नेय काण्ड प्रथम अध्याय जिसमें २ प्रपाठक ११४ मंत्र हैं। इस काण्ड के लगभग सभी मंत्रों का देवता अग्नि है। ऐन्द्र काण्ड में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्याय, ३ से ५ तक प्रपाठक और ३५२ मंत्र हैं। पवमान काण्ड में पंचम अध्याय, ६ प्रपाठक और ११९ मंत्र है। आरण्यक काण्ड में ६ अध्याय और ५५ मंत्र हैं। महामाम्नी कार्णड में १० मंत्र हैं। इस प्रकार पूर्वार्चिक में आग्नेय काण्ड में ११४ मंत्र, ऐन्द्र काण्ड में ३५२ मंत्र, पवमान काण्ड में ११९ मंत्र व आरण्यक काण्ड में ५५ कुल ६४० मंत्र है।

दूसरा उत्तरार्चिक भाग में २१ अध्याय, ९ प्रपाठक और १२२५ मंत्र है। तीसरा मध्यभाग महानाम्नी में १० मंत्र है। सामवेद में इस प्रकार पूर्वार्चिक में ६४० मंत्र, उत्तरार्चिक में १२२५ मंत्र और तीसरा महानाम्नी में १० मंत्र, कुल १८७५ मंत्र हैं।

महर्षि गार्गायनप्रणीत 'प्रणववाद' नामक एक अत्यंत प्राचीन ग्रंथ में सामवेद प्रतिपाद्य विषय के संबंध में सप्तम तरंग में लिखते है कि, "तस्माज्ज्ञानपराक्रिया पराचया शक्तिः सैवेच्दारूपासवार्थदायिनी सामवेद व्यवस्थित भवति।" अभिप्राय यह है कि सामवेद के अन्दर उस दिव्य इच्छाशक्ति (उपासना) का प्रतिपादन किया गया है जिसमें ज्ञान और क्रिया दोनों शामील हैं और जो सब अर्थों को सिद्ध करनेवाली है। इसी प्रकार मुख्य रूप से प्रतिपादित ज्ञान क्रिया और इच्छा के द्वारा संपूर्ण तत्व का भान होने लगता है। आगे बताया गया है कि 'यथाशक्त्या विद्याद्युपस्थितिः ध्यानाद्युप स्थितिः मानस विचारः इन्द्रियनिग्रहादि शक्तिः शक्तिमत्वम् जननमरणशक्तिः धर्मार्थ काममोक्षाणां तव्यव-हारश्चेत्यादि सर्वम् सामवेदे स्पष्टयुक्तं भवति' अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा ज्ञानध्यानादि की उपस्थिति हो जाती है, इन्द्रियों को वश में करने, अपनी इच्छा से उत्पन्न होने और मरने अद्भुत शक्ति सम्पादन करने तथा धर्मार्थ-काम-मोक्ष के तत्व व्यवहार का सारा वर्णन सामवेद में स्पष्ट तौर पर पाया जाता है। चारों वेदसंहिताओं का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मतत्व है। इस बात को 'प्रणववाद' में अच्छी प्रकार स्पष्ट किया है।

सम्पर्क : श्रीराम मंदिर के पास, मेन रोड,
आलन्द, जि. गुलबर्गा (कर्नाटक) - ५८५३०२
मो. : ०९७४१०९५४६४
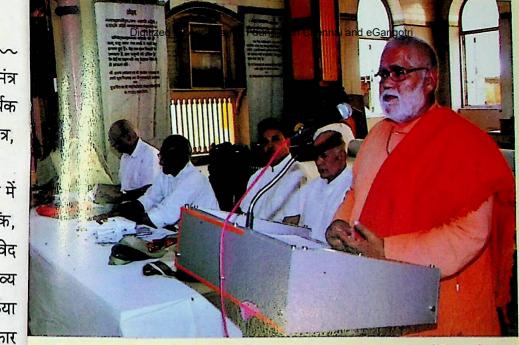
यजुर्वेद सम्मेलन (१२-१३ मार्च २०११) के अध्यक्ष स्वामी प्रणवानन्दजी सम्बोधित करते हुए

डा. सोमदेव शास्त्री (अध्यक्ष वैदिक मिशन मुम्बई) यजुर्वेद सम्मेलन (१२-१३ मार्च २०११) उपस्थित विद्वानों को सम्बोधित कर रहे हैं। मंच पर उपस्थित डा. ज्वलन्तकुमारजी, डा. विनयजी विद्यालंकार, स्वामी धर्मेश्वरानन्दजी, आचार्य वेदप्रकाशजी श्रोत्रिय, एवं डा. प्रशस्यमित्र शास्त्री

श्री डा. धर्मेन्द्रकुमारजी शास्त्री (सचिव संस्कृत अकादमी, दिल्ली) सामवेद सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए साथ में बैठे हैं श्री डा. ज्वलन्तकुमारजी शास्त्री, श्री डा. वीरेन्द्रकुमारजी, स्वामी प्रणवानन्दजी एवं स्वामी धर्मेश्वरानन्दजी

श्री सन्दीप आर्य (मन्त्री वैदिक मिशन मुम्बई) सामवेद सम्मेलन (१७-१८ मार्च २०१२) में सम्बोधित कर रहे हैं। मंच पर श्री अशोकजी आर्य(कार्यकारी अध्यक्ष सत्यार्थ प्रकाश न्यास, उदयपुर),आचार्य दयासागरजी, श्री आनन्दजी आर्य, श्री मिठाईलाल सिंहजी, स्वामी प्रणवानन्दजी, श्री विठ्ठलरावजी आर्य, श्री अरुणजी अबरोल एवं स्वामी धर्मेश्वरानन्दजी